विद्या वाहिनी

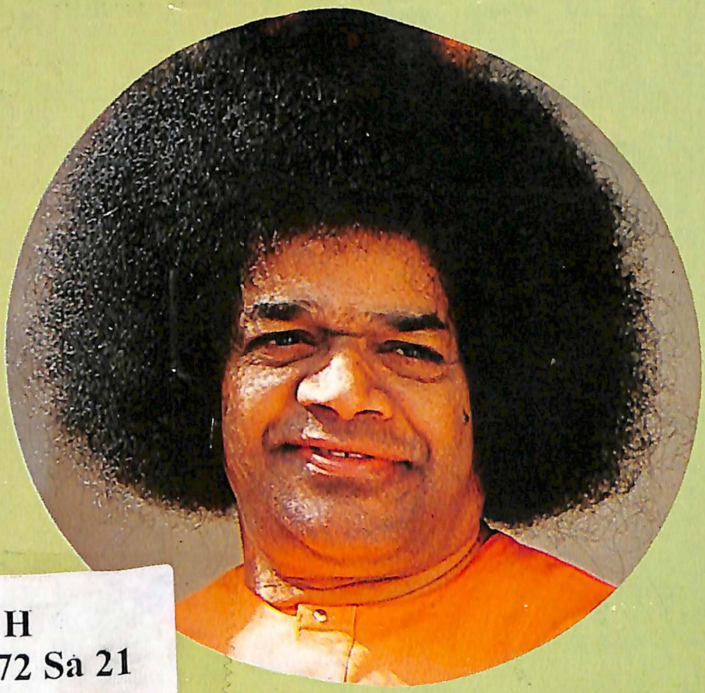

H
294.572 Sa 21
VI

H
294.572
Sa21VI

विद्या वाहिनी

भगवान श्री सत्य साई बाबा

Published under arrangements with and authority of
Sri Sathya Sai Books & Publications Trust, Prashanthi Nilayam
Distt. Anantapur, A.P. 515134

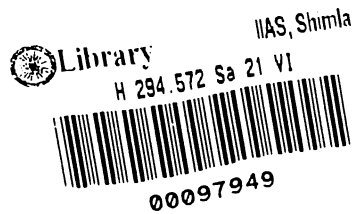

हिन्दी अनुवादक :
भागवत प्रसाद मिश्र, एम० ए; एल० टी०

मुद्रक : कंवल किशोर एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली-५

यह पुस्तक

बाबा ने यह स्पष्ट किया है कि 'विद्या' शब्द का, जो इस वाहिनी के लिए प्रयोग में आया है, अर्थ है वह जो प्रकाशित करे। आत्मविद्या, ब्रह्मविद्या आदि पदों में 'विद्या' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रशांति निलयम् क्षेत्र के लिए जिसमें 'इस्टीट्यूट ऑफ हायर लर्निंग' भी सम्मिलित है, विद्यागिरि का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इस पद से बाबा हमें यह भी अवगत कराते हैं कि संसार में सामान्य कोटि का ज्ञान भी है जो सिद्धान्तवादों, अनुमानों, संप्रत्ययों, ऊहाओं और निर्मितियों से सम्बन्धित है किंतु उच्चस्तरीय ज्ञान हमारी सामान्य अंतः- प्रेरणा को गति प्रदान करता है वरन् उसका विस्तार भी करता है, जिसके आधार पर हम सत्यम् शिवम् और सुंदरम् को न केवल सही रूप से पहचानते हैं, वरन् उससे तदाकार हो जाते हैं। बाबा हम मनुजों के बीच स्वयं आरोपित महान उद्देश्य लेकर मानव रूप में अवतरित हुए हैं। यह उद्देश्य है निम्नस्तरीय ज्ञान के अंधानुकरण से उत्पन्न दोषों से पीड़ित मानवता का उद्धार। मानव जाति को इस भवसागर में अपनी यात्रा एक संतुलित और सधे हुए जलयान द्वारा पूरी करनी है। पर यह जहाज बड़ी तेजी से झुका हुआ अपनी जलसमाधि की ओर बढ़ रहा है। भौतिकवादी निम्नज्ञान इस यान को एक तलहीन गड्ढे में ढकेलता चला जा रहा है। एक मात्र विद्या ही इसका इलाज है।

अपने बाल्यकाल से बाबा एक महान् शिक्षक के रूप में प्रकट हुए हैं। गांव वालों ने तो उन्हें तभी से 'गुरु' शब्द की उपाधि दे दी थी। वे निस्संकोच भाव से पुट्टापर्ती के बड़े-बूढ़ों को, विद्यालय के शिक्षकों को, जातियों के सरपंचों को, जीवों के प्रति क्रूरता, श्रमिकों के शोषण, ब्याज की ऊंची दर पर पैसा उधार देना, जुआ खेलना, दिखावा, अशिक्षा, पाखण्ड आदि से सावधान करते रहते थे। इस नवयुवक शिक्षक ने व्यंग, विनोद, कटाक्ष, गीत तथा नाटकों द्वारा उस समाज की हंसी उड़ाई, और अंततः उसका सुधार किया जो इन रूढ़िगत पाखंडों और दोषों को सहन करता था और उनका आदर करता था। सन् १९४३ ई० में जब बाबा केवल सत्रह वर्ष के थे, उन्होंने स्त्रियों

और पुरुषों द्वारा गाए गए सामूहिक भजनों के माध्यम से सत्य, धर्म, शांति, प्रेम और अहिंसा के शाश्वत मानव मूल्यों का प्रचार किया। ये ही वे आधारभूत उपलब्धियां हैं, जिन्हें विद्या (उच्च स्तरीय) द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

भगवान बाबा ने द्वापर में श्रीकृष्ण के रूप में अर्जुन से कहा था, 'अध्यात्म विद्या विद्यानाम्' अर्थात् सभी विद्याओं में मैं आत्म विद्या हूं, अथवा आत्मिक सत्य की खोज मैं ही हूं। सत्य और पूर्णत्व की खोज, एकता और पवित्रता की खोज, एक माध्यम है, और अद्वैत ब्रह्म की अभिज्ञता उस प्रक्रिया की परिणति है। यह संदेश स्वामी के पाँच दशकों से दिए जाने वाले प्रवचनों का निचोड़ है।

यह अमूल्य पुस्तक हमें उन उन्नीस निबंधों के अध्ययन और मनन का अवसर प्रदान करती है जिन्हे बाबा ने अपने शिक्षाविद् भक्तों की सतत प्रार्थनाओं के उत्तर में लिखा था और जिनमें उन्होंने शिक्षा के उन सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है जिनके आधार पर समाज और विश्व में स्थायी शांति और स्वतंत्रता की स्थापना की जा सकती है।

प्रशांति निलयम्
१४ जनवरी १९८४

एन० कस्तूरी
सम्पादक, सनातन सारथी

ॐ

एक

जिसकी उत्पत्ति नहीं, उसका आरम्भ कैसा। उसका अस्तित्व सृष्टि की हर वस्तु के पूर्व था। उसके पहले कुछ भी न था। इसलिए उसका कोई अंत भी नहीं है। वह स्वेच्छा से अपना विस्तार करता है, अपनी इच्छानुकूल विभिन्न दिशाओं में प्रगति करता है और अपनी पूर्णता से इस ब्रह्माण्ड को भर देता है। इस सर्वोच्च सत्ता का ज्ञान ही विद्या है, प्रज्ञान है, अभिज्ञता है।

अनेक संतों ने इस अद्वितीय अभिज्ञता के विविध अनुभवों के साथ साथ इस अनंत के मोहक सौंदर्य में निहित परम रहस्य के दर्शन अपने प्रकाशित हृदयों में किए हैं; इसीलिए मानव के प्रति असीम करुणा से प्रेरित होकर उन्होंने मानव भाषा द्वारा उस दिव्य दृश्य का वर्णन किया है ताकि उस परमानन्द में लीन होने की जन्मजात प्यास एक बार फिर मानव हृदय में उत्पन्न हो सके। संत और महात्माओं के हृदयों में यह प्रेरणा विद्या द्वारा ही उत्पन्न होती है।

शब्द वेदों का प्राण है। शब्द का संबंध संगति और माधुर्य से है। अत: वेदों का श्रवण करना चाहिए और उससे उत्पन्न आनंद का पान करना चाहिए। वेद का विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं, उस पर अपनी टिप्पणी देने की भी आवश्यकता नहीं, और न ही उस पर कोई निर्णय दिया जा सकता है। यही कारण है कि वेद को श्रुति के नाम से पुकारते हैं। वेद पाठ के श्रवण मात्र से आत्मा सन्बन्धी ज्ञान और उससे उत्पन्न आनंद को प्राप्त किया जा सकता है। इस प्रकार प्राप्त किया हुआ दिव्यानंद वाणी और कार्यों के रूप में प्रकट होता है और अपने चारों ओर उल्लास एवं आनंद की भावना को बिखेरता है।

साधारणतया लोग 'वेदान्त' शब्द का प्रयोग एक दार्शनिक विचार धारा के लिए करते हैं। किंतु वेदान्त वैदिक साहित्य का केवल एक विशिष्ट अंग है। सारे उपनिषद् वेदान्त का ही अंग हैं। वस्तुत: वैदिक विचार धारा की

परिणति ही वेदान्त में होती है। वेद स्वयं ही ब्रह्म की उस सर्वोच्च सत्ता तक पहुंचने के लिए मार्ग दर्शक का काम करते हैं। ऋग्वेद की ऋचायें और मंत्र मानव की आत्मा में उत्पन्न उस आल्हाद के स्रोत हैं, जो मनुष्य अपने से पृथक् प्रकृति के सौंदर्य और उसकी सुव्यवस्था का चिंतन करते हुए अनुभव करता है। सामवेद एक ऐसा अमूल्य मौखिक कोष है, जिसके माध्यम से मनुष्य ने सृष्टिकर्त्ता और उसकी सृष्टि की प्रशंसा में गीत गाये हैं। अथर्ववेद में इह लोक और इससे परे अन्य लोकों के रहस्य का विशद वर्णन किया है। इसी प्रकार यजुर्वेद में हमारी पूजा, उपासना तथा संस्कारों से सम्बन्धित सूत्र एवं मंत्र दिए हुए हैं जो हमें मनोवांच्छित भौतिक फलों और सिद्धियों को प्रदान करते हैं।

इन चार ग्रंथों में संग्रहीत वैदिक साहित्य अलग-अलग चार वेदों के नाम से जाना जाता है। किंतु इसकी चार अन्य शाखायें भी हैं। वे हैं-मंत्र, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्। जिन ग्रंथों में मंत्र संग्रहीत हैं, उन्हें संहिता भी कहते हैं। सभी पवित्र सूत्र इनमें संग्रहीत हैं। जिन ग्रंथों में इन सूत्रों के उच्चारण व प्रयोग विधियां और पद्धतियां दी हैं उन्हें ब्राह्मण कहते हैं। सही और शुद्ध मंत्रोंच्चारण ही फलदायी होता है। ब्रह्म शब्द के अनेक अर्थ हैं। ब्राह्मण ग्रंथो में इसका अर्थ मंत्र है। ब्रह्मणों में अधिकांश कर्मकाण्ड सम्बन्धी यज्ञ हवनादि क्रियाओं का वर्णन है। आरण्यक ग्रंथों में इंद्रियों को वश में करना तथा आसक्ति से छुटकारा आदि आंतरिक अनुशासन सम्बन्धी अनेक क्रियाओं का उल्लेख है तथा इनके आंतरिक महत्त्व पर प्रकाश डाला गया है। उपनिषद दार्शनिक विश्लेषण द्वारा अंतर और बहिर्जगत् के मध्य कर्म और उपासना के मध्य एक सामंजस्य स्थापित करते हैं। वैदिक साहित्य के अध्ययन का वे अंतिम पक्ष हैं और इसीलिए उन्हें वेदान्त भी कहते हैं। सारे ग्रंथों का नवनीत या निचोड़ हैं। उन्हें वैदिक उपदेशों और ज्ञान का सार भी कहा जा सकता है। जब विद्वत्ता के द्वारा वेदों के ज्ञान को समाहित किया जाता है तो जिस प्रकार दूध के मथने से मक्खन निकलता है, वैसे ही वेदों के अवगाहन से वेदान्त दर्शन प्राप्त होता है।

अभी तक उल्लिखित सभी प्रकार का वैदिक साहित्य ही हमारे प्राचीनतम ज्ञान का समूह है, यही सच्चे अर्थों में विद्या है। सद् धातु में 'उप'

तथा 'नि' इन दो उपसर्गों को जोड़ने से उपनिषद शब्द की रचना हुई है। 'सद्' का अर्थ है 'बैठना'। इसका दूसरा अर्थ भी है 'नष्ट करना'। 'उप' का अर्थ है 'निकट'। शिष्य को गुरु अथवा आचार्य के निकट बैठना पड़ता है, और उसे जो भी वस्तु बतलाई जा रही है उसे अत्यंत ध्यान से सुनना पड़ता है तभी वह ज्ञान के अक्षय भंडार को सीख सकता है और उसमें विवेक का उदय होता है।

उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र और श्री भगवद्गीता भारतीय दर्शन के ये तीन मूलाधार हैं। सामूहिक रूप से ये प्रस्थान त्रय के नाम से जाने जाते हैं।

यह पार्थिव वस्तुनिष्ठ जगत क्या है ? जो हम नेत्रों से देखते हैं, जो हमारी इंद्रियों को प्रिय लगता है, जो हमारे मन को मोह लेता है और हमारे मस्तिष्क को समय समय पर सूचना देता रहता है, वही यह भौतिक जगत है। किंतु इसी वाह्य जगत में और इसके मध्य अ-भौतिक वैयक्तिक जगत भी है, जहां तक पहुंचा जा सकता है। जब व्यक्ति उसे भी जान जाता है, ये दोनों विश्व उसी अविभाज्य चैतन्य तत्व की आंशिक अभिव्यक्ति के रूप में प्रकट होते हैं। उस पूर्णत्व को हृदयंगम करने के लिए वे एक दूसरे के पूरक हैं। परब्रह्म से ही जीव की उत्पत्ति होती है। जब जीव अपना भौतिक शरीर, जिसने उसे बांध रक्खा है, त्याग देता है, तो उसमें निहित जो अनंत सर्वव्यापी चेतना है, वह पुनः अपने पूर्णत्व में अर्थात् परब्रह्म में मिल जाती है। 'पूर्णमदं पूर्णमिदं पूर्णाद् पूर्णमुदच्चते' अर्थात् वह भी पूर्ण है, यह भी पूर्ण है। और पूर्ण से ही पूर्ण की उत्पत्ति हुई है। आगे 'पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते' अर्थात् हम जब पूर्ण से पूर्ण को निकालते हैं, तो जो शेष रहता है, वह भी पूर्ण ही है।

विद्या अर्थात् शिक्षण प्रक्रिया हमें बतलाती है कि यह सृष्टि उस परमात्मा की लीला का प्रदर्शन है अन्य कुछ नहीं, उपनिषदों ने इस सत्य का प्रतिपादन इस रूप में किया है, "ईषावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।" यह विश्व ही प्रभु का निवास है। अतः किसी भी व्यक्ति में स्वाधिकार की भावना तथा अंहकार का लेशमात्रा भी न होना चाहिए। आसक्ति का त्याग करो। हर स्थल पर परमेश्वर की उपस्थिति का अनुभव करो। अपने को इच्छाओं से बांध कर मत रक्खो तथा आनंदस्वरूप प्रभु द्वारा प्रदत्त दिव्यानंद को उसका

अनुग्रह मान कर उसका रसपान करो। यही ऋषि-मुनियों और महात्माओं का संदेश है।

'मैं' और 'तू' के भाव का त्याग करो, तभी तुम उस महिमा को समझ सकोगे जो 'मैं' और 'मेरा' से परे है। इसका यह अर्थ नहीं कि तुम प्रत्येक वस्तु का त्याग करो। विद्या बतलाती है कि विश्व में कर्त्तव्य समझकर व्यवहार अवश्य करो किंतु अनासक्त भाव से। अपने को उसमें उलझाओ मत। कर्म कोई भी पवित्र हो सकता है किंतु तभी जब वह कसौटी पर खरा उतरता है, और वह कसौटी है यह देखना कि उसके करने से हम मोह-माया में फंसते हैं या बंधन से मुक्त होते हैं। कोई भी कर्म अपवित्र अथवा पाप की श्रेणी में आता है यदि उसकी उत्पत्ति लोभ से हुई है, और वह लोभ और मोह की वृद्धि करता है। विद्या हमें यह सिखलाती है, यह उसकी शिक्षा है। न्यायपूर्ण कर्त्तव्यों के पालन में तत्पर तुम ईश्वर से सौ वर्ष जीवित रहने की प्रार्थना कर सकते हो तुम्हें कोई दोषी न कहेगा। अतः विद्या हमें परामर्श देती है कि हमें विभिन्न कर्मों की प्रकृति तथा उसके सम्पादन से उत्पन्न फलों को भली-भाँति समझकर ही उनमें लगना चाहिए।

पशु केवल अन्य पशुओं का वध करते हैं। किंतु वह व्यक्ति जिसने अपने आत्म-स्वरूप को पहचानने की दिव्य दृष्टि प्राप्त नहीं की है, और जो इस दृष्टि से अंधा ही है, स्वयं अपना ही वध करता है। विद्या यह चेतावनी देती है कि जो भी व्यक्ति अपराध करता है वह अत्यंत निविड़ निशा में अनेकानेक घोर नरक के विभिन्न लोकों में मारा मारा फिरता है। विद्या जो सर्वोच्च प्रज्ञान है मनुष्यों के लिए आत्मा के लक्षणों का वर्णन करती है। आत्मा इधर उधर विचरण नही करती, वह सर्वत्र विद्यमान है। देवता भी उसके साथ नहीं चल सकते। वे चाहे कितने ही तीव्रग्रामी हों। हम उसकी उपस्थिति का अनुमान लगायें इसके पूर्व ही वह अपनी उपस्थिति हमारे सम्मुख प्रकट कर देती है, आत्मा अविनाशी और सर्वव्यापी है। विद्या यह घोषित करती है कि आत्मा के सच्चे स्वरूप का वर्णन असम्भव है।

जब व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, अथवा जब वह परा विद्या के स्तर को छू लेता है, उसके लिए आत्मा और अनात्मा,विद्या और

अविद्या, विकास और विनाश-इन विरोधी तत्वों में कोई अंतर नहीं रह जाता। ऋषि, मुनि सूफी और संत उस उच्च स्तरीय एकता को प्राप्त कर चुके हैं और विद्या की सहायता से उनके संघर्ष और सफलता की गाथायें साहित्य में स्थान पा चुकी हैं। ऐसे रहस्यवादी संतों के लिए ज्ञान उतना ही संकटपूर्ण है जितना अज्ञान। वे ज्ञान और अज्ञान दोनों के रहस्यात्मक उद्‌गमों और परिणामों को जानते हैं। वे अज्ञान की सहायता से मृत्यु को जीतने में समर्थ हैं और ज्ञान के द्वारा अमरत्व प्राप्त कर सकते हैं।

दो

केवल तभी व्यक्ति विद्या की दिव्यता को समझ सकते हैं, अथवा दूसरों को समझा सकते हैं जबकि उन पर निर्मल मन का उज्जवल प्रकाश पड़ रहा हो। जिस कमरे को अत्यंत सावधानी से स्वच्छ रखा जाता है, उसमें सांप, बिच्छू अथवा अन्य किसी विषैले जीव-जन्तु का प्रवेश नहीं हो सकता। उन्हें अंधेरे और गंदे स्थान ही अनुकूल लगते हैं। इसी तरह जिन हृदयों में अंधकार और मलिनता है, उनमें दिव्य ज्ञान कैसे प्रवेश कर सकता है। उनमें तो क्रोध, मद, मोह आदि विषैले विचार और वासनायें ही पनप सकती हैं।

यदि कोई कोयले का रंग छुड़ाना चाहे, तो साबुन और पानी क्या करेगा? यदि उस ढेले को दूध से धोओ, तो भी क्या होगा ? इसका एक मात्रा उपाय है, उसे आग में डाल दो, आग में पड़ कर वह सफेद राख के ढेर में बदल जाएगा इसी प्रकार जब कोई व्यक्ति अज्ञान के अंधकार का नाश करना चाहता है और इच्छा की धूल को हटाना चाहता है, तो उसे आत्म ज्ञान, दूसरे शब्दों में ब्रह्मविद्या प्राप्त करनी होगी। केवल प्रकाश की सहायता से अंधकार को और घने अंधकार की सहायता से वश में नहीं किया जा सकता। विद्या ही वह प्रकाश है जिसकी मनुष्य को आवश्यकता है। विद्या हमारे अंतर्जगत को प्रकाशित करती है। विद्या ही प्रामाणिक पुरुषोत्तम योग है जिसकी गीता में व्याख्या की गई है। वही ब्रह्मज्ञान है। वह पैसे से खरीदा नहीं जा सकता, न मित्रों से प्राप्त किया जा सकता है, और न ही मण्डलियां और कम्पनियां आर्डर पाकर इसे भेज सकती हैं। इसे तो प्रत्येक व्यक्ति

को दृढ़ आस्था और अटल भक्ति के द्वारा ही प्राप्त करना होगा और आत्मसात् करना होगा ।

'ईश्वर कहीं नहीं है'-इस कथन को बदलने की आवश्यकता नहीं है। न इसका विरोध करने की आवश्यकता है और न काटने की । अंग्रेजी में 'God is no where' में जो 'w' 'where' के पहले आया है, उसे 'no' शब्द के पीछे लगा देने भर की देर है। इसके लगते ही 'God is no where' वाक्य 'God is now here' अर्थात् 'ईश्वर अभी यहां है' बन जाएगा। इस सत्य को प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं, यह तो स्वयं-सिद्ध है। एक क्षण में नकारात्मक वाक्य सकारात्मक बन जाता है। इसी प्रकार विभिन्न दिशाओं में भटकने वाली चंचल दृष्टि को केवल एक दिशा में एकाग्रता से लगाने की जरूरत है। सारे भेद और अंतर अपने आप गायब हो जाते है, और सारी विविधता एकता में सिमट आती है। रामकृष्ण परमहंस, जयदेव, गौरांग, तुकाराम, तुलसीदास, रामदास, कबीरदास, शारदादेवी, मीरा, सक्कु बाई, मल्लाम्मा-इनमें से किसी ने न तो धार्मिक तथा वैज्ञानिक ग्रंथों की व्याख्या पढ़ी थी और न उन पर की गई टीकाओं का पारायण किया था। फिर भी आज तक सभी धर्मों के अनुयायियों और सभी प्रदेशों के निवासियों द्वारा उनका आदर किया जाता है। इसका एक मात्र कारण आत्मा में उनका अडिग विश्वास था। जो उन्होंने साधना द्वारा मन को निर्मल बनाकर प्राप्त किया था। विद्या ने ही उन्हें मन की यह स्वच्छता और विशुद्धता प्रदान की थी।

उन संतो ने अपने हृदयों में जो भी जिस रूप में अनुभव किया। उसी को वाणी द्वारा वर्णन किया। इसके विपरीत जरा इस युग के विद्या पर अपना अधिकार जताने वालों पर विचार करो। क्या यह सत्य नहीं है कि आजकल लाखों में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जो अपने हृदय की सच बात कहता हो ? वे वर्ष में एक दिन भगवान सत्य नारायण की पूजा करते हैं; वर्ष के शेष दिनों में वे 'असत्य देवता' की ही पूजा करते हैं, अर्थात् झूठ बोलते हैं। इस प्रकार की पूजा उन्हें केवल भौतिक दृष्टि से ही एक ही एक विद्वान बनने की प्रेरणा देती है। किंतु क्या ऐसे ज्ञान को 'विद्या' कहा जा सकता है, नहीं, कभी नहीं।

थाली में परोसा हुआ भोजन यदि न तो हम खायें और न किसी भूखे

को दें, तो वह किस काम का ? उपयोग न करने के कारण वह बासी होकर सड़ जाएगा। इस प्रकार जब हमारी त्रुटियाँ और दुर्बलताएं सुधारी नहीं जाती, चाहे स्वयं अपने प्रयत्नों द्वारा अथवा उन भला चाहने वालों के उपदेशों को सुनकर जिन्होंने स्वयं अपने दुर्गुणों से छुटकारा पा लिया है, तो भविष्य में हमारे भाग्य में क्या होगा इसकी कल्पना की जा सकती है। जिस प्रकार प्लेट में रक्खी हुई उबली हुई दाल कुछ समय के बाद दुर्गंध देने लगती है, इसी प्रकार जीवन भी कुछ समय के बाद दूषित हो जाता है। यह ऐसा ही है जैसा कि एक पिता का अपने पुत्र के गुणों की प्रशंसा करते हुए यह कहना कि मेरे पुत्र में तो केवल दो साधारण सी कमियां हैं (१) वह यह नहीं जानता कि उसके दोष क्या हैं। (२) यदि दूसरे लोग उसे उसके दोष बताना भी चाहें तो वह उन्हें सुनना नहीं चाहता। किंतु यह तो पहले जमाने की बात है। आज कल तो एक पुत्र नहीं वरन् हर घर के एक पुत्र के साथ उपर्युक्त कथन लागू है । आज कल तो जिस पिता से मिलिए अपने पुत्र के विषय में यही शिकायत करता है। क्या वे अपने को जिस विद्या का अधिकारी कहते हैं, इसका यही मूल्य है।

किंतु बालक स्वभाव से सदैव अत्यंत सरल होते हैं। दोष तो उस व्यवस्था का है जो उन्हें विद्या प्रदान करती है। वैसे सभी इस बात से परिचित हैं, किंतु जहाँ उसके सुधार की बात आती है, वे पीछे कदम हटा लेते हैं। यही सबसे बड़ी दुर्बलता है। हज़ारों ढंगों से सलाह देना सरल है, पर उनमें से एक भी व्यवहार में नहीं लाई जाती। समाचार पत्रों में मोटे-अक्षरों में घोषणा की जाती है "प्राथमिक पाठशाला से लेकर विश्व विद्यालय तक की शिक्षा प्रणाली में आमूल परिवर्तन होना चाहिए।" किंतु कोई माई का लाल सुधार करता हुआ दिखाई नहीं पड़ता, और न ही कोई यह बतलाता है कि विशिष्ट रूप से किन किन क्षेत्रों में क्या सुधार होने हैं और कैसे? शिक्षा प्रणाली के दोषों को कोई स्पष्ट रूप से सामने नहीं रखता।

लोग इस सत्य को मानने के लिए आज भी तैयार नहीं हैं कि आध्यात्मिक, नैतिक और आचरण सम्बन्धी मूल्य ही मानव जीवन की सफलता के चरम बिन्दु हैं। जब वे कार्यरत नहीं होते तो वे शिक्षा पर बड़े-बड़े लेख और निबंध लिखते हैं, अथवा सभी-सम्मेलनों में तोते की तरह मंच से रटी रटायी बातें

बोलते है। किन्तु जब उन्हीं व्यक्तियों के हाथ में सत्ता आ जाती है, तो जो कुछ भी उन्होंने पहले कहा था उसके ठीक विपरीत नियमों की रचना और निर्धारण करते हैं।

चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच सकता है, हर लोहे के जिन टुकड़ों पर जंग और धूल लगी हो, उन्हें आकर्षित नहीं कर सकता। वैसे ठीक है, मंच से भाषण भी देने चाहिए, पर उन पर अमल भी तो करना चाहिए। वहाँ तो लगता है कि हर एक को लकवा लग गया है। जब तक यह बीमारी ठीक नहीं होती, तब तक शिक्षा और सच्ची विद्वत्ता के दर्शन नहीं हो सकते। लोहे पर लगी हुई जंग और धूल को हटाना ही पड़ेगा, तभी चुम्बक उसे अपनी ओर आकर्षित करेगा। इस प्रकार जब मन बिल्कुल निर्मल हो जाएगा तब उसका प्रभाव वही होगा जैसा कि एक कवि ने कहा है, "महात्मा का एक ही लक्षण है मनसा वाचा कर्माण वह एक हो।" जब यह तीनों एक लय, एक संगति में होते हैं तभी मनुष्य का सही मूल्य हमारे सम्मुख प्रकट होता है। किंतु खेद है कि मनुष्य स्वेच्छा से अपने इस अद्वितीय महत्व को स्वयं ही नकार रहा है। कारण यह है कि वह आत्म विद्या से अनभिज्ञ है। वह सच्ची विद्या जिसका ज्ञान व्यक्ति के उद्धार के लिए अनिवार्य है।

रामकृष्ण परमहंस के समकालीन अनेक विद्वान, पंडित और शास्त्री थे। किंतु आत्मानुभूति के अभाव में उनके मन कभी प्रकाशित नहीं हुए। फल स्वरूप उन विद्वानों और पंडितों के नाम आज कोई नहीं सुनता। केवल रामकृष्ण परम हंस का नाम ही सारे विश्व में फैल गया है यद्यपि उन्होंने कभी किसी क्षेत्र में विद्वता अथवा ज्ञानवान होने का दावा नहीं किया। उसका कारण क्या है। शक्कर मिश्रित जल और सामान्य जल देखने में दोनों एक से दिखलाई पड़ते है। उन्हें पीकर देखो तुम्हें तुरंत पता चल जाएगा कि कौन शरबत है और कौन पानी।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के शब्द सर्वोच्च प्रज्ञान के प्रतीक हैं। पंडितों की भाषा अधिकांश पुस्तकीय ज्ञान तक सीमित रहती है। उसी में डूबी रहती है। पाखंडी पंडित जिन्होंने केवल ग्रंथों का अध्ययन मात्र किया है पैसे के पीछे पागल रहते हैं। वे ईश्वर की ओर उन्मुख नहीं होते। दियासलाई की जो सींके एक बार पानी में गिर कर भीग गयी हैं, वे किसी भी दशा में जल

नहीं सकती, आप चाहे जितना प्रयत्न कीजिए। बल्कि जिस डिब्बी में उन्हें रखिए उसे भी गीला कर देती हैं। इसी प्रकार जिन व्यक्तियों के हृदय सांसारिक इच्छाओं और माया जाल में फंसे हुए हैं, वे तोते की तरह रटे हुए उपदेश भले देते रहें, किंतु उन्हें अधिक से अधिक केवल श्रोता मिल सकेगे उन उपदेशों को व्यवहार में लाने वाले नहीं। वे दी हुई सलाह सुन लेंगे, किंतु न तो उसे स्वीकार करेंगे और न उस पर अमल करेंगे।

विश्व में प्रत्येक घटना के पीछे एक कारण होता है, अर्थात् उसका ज्ञान। वास्तव में जब तक वे पदार्थ अथवा वस्तुएं न हों जिन्हें जानने की आवश्यकता है, तो ज्ञान किस वस्तु का होगा और कहाँ से आएगा। ज्ञान दो प्रकार का होता है-प्रत्यक्ष और परोक्ष अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान कान तथा अन्य इंद्रियों के द्वारा अथवा दूसरे के शब्दों को सुन कर प्राप्त होता है। किंतु परोक्ष ज्ञान, जो सच्ची विद्या है, उसमें बहुत्व अथवा अनेकत्व नहीं होता। वह उन पदार्थों और आकर्षणों को समझती है, उनका विश्लेषण करती है जो सदैव मन को घेरे रखते हैं। यह मन को निर्मल और शुद्ध बनाती है, और अंतर्दृष्टि को व्यापक बनाती है।

तीन

आजकल हमारी शिक्षा प्रणाली अधिक व्यय साध्य और विस्तृत होते हुए भी नैतिक शिक्षा की उपेक्षा करती है प्राचीन काल में हमारे गुरुकुलों में जो शिक्षा प्रदान की जाती थी वह श्रेष्ठ जीवन यापन, आध्यात्मिक उन्नति, चारित्रिक गठन और सदाचार की दृष्टि से दी जाती थी उन दिनों छात्र गण नम्रता, इंद्रिय-निग्रह, सद्गुणों का विकास तथा अनुशासन में प्रशिक्षित किए जाते थे। किंतु आजकल विद्यार्थियों में इन गुणों की झलक भी दिखाई नहीं पड़ती। वे इंद्रिय-निग्रह का अर्थ नहीं समझते और न उसके साधनों से परिचित हैं। बचपन से ही छः प्रकार की मौज मस्ती में समय बिताते हैं; वे मुक्तरूप से इंद्रिय-भोग में लिप्त रहते हैं और भौतिक वाद में विश्वास करते हैं। फलस्वरूप हमें अपने महाविद्यालयों में विद्यार्थियों की जो स्थिति देखने को

मिलती है, उसे देखकर घबरा उठते हैं। कलकत्ते में स्वास्थ्य विभाग के अधिकारी ने यह पता लगाया है कि प्रत्येक सौ में अस्सी विद्यार्थी स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत गिरे हुए हैं। बम्बई नगर में स्थिति इससे भी दयनीय है। वहां प्रत्येक सौ में ९० विद्यार्थियों का स्वास्थ्य खराब है। इसका मुख्य कारण यह है कि छात्रगण अपना अधिकांश जीवन बुरी आदतों और इंद्रिय सुख के पीछे अंधाधुन्ध भागने में बिता देते हैं। क्या आप इसे शिक्षा के लाभ कहेंगे, या कि आप इसे गर्हित अज्ञान द्वारा अर्जित सम्पत्ति कहेंगे ?

इस सम्बध में शिक्षकों को अपने कर्त्तव्यों और दायित्वों को पहचानना चाहिए और उनके प्रति समर्पित होना चाहिए। अपने कोमल और अबोध छात्रों के मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थय की रक्षा और उन्नति में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहता है। उन्हें अपनी जिम्मेदारी समझनी चाहिए।

हर जीवित प्राणी अपने चारों ओर के संसार को देखता है। पर हर व्यक्ति उसे अपने ही अनोखे ढंग से देखता है। एक ही वस्तु को दस व्यक्ति दस विभिन्न भावों के साथ देखते हैं ! एक व्यक्ति को उसका पुत्र पिता के रूप में देखता है। पत्नी उसको पति के रूप में देखती है। उसका पिता उसे पुत्र के रूप में देखता हे उसका साथी उसे अपना परम मित्र समझता है। व्यक्ति तो एक ही है किंतु वह प्रत्येक में समान भाव उत्पन्न क्यों नहीं करता ? जो लोग उसे अलग अलग दृष्टियों से देखते हैं, उन पर उसका अलग अलग प्रभाव पड़ता है। यही सत्य है।

एक बार ब्रह्म मठ में रहने वाले एक गुरु ने बड़ी प्रसन्न मुद्रा में पान चबाते हुए अपने शिष्य से पुछा, "प्रियवर यह संसार कैसा है ?" शिष्य ने उत्तर दिया, "गुरुजी, प्रत्येक का अपना अलग संसार होता है।" यद्यपि सभी इस संसार में रहते हैं, फिर भी हर व्यक्ति अपनी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं से बने हुए संसार में रहता है। यही कारण है कि शंकराचार्य ने कहा था, "अपनी दृष्टि को प्रज्ञान से भरो तत्पश्चात् तुम्हें प्रत्येक बस्तु में ईश्वर दिखाई देगा" जब दृष्टि ज्ञान से भर जाती है, तो सृष्टि ब्रह्ममय हो जाती है।

शिक्षा की आज की शब्दावलि में धन ही धर्म है धनार्जन ही सत्य-पथ है। धन ही कर्म है। हमारे प्रत्येक कर्म का एक ही लक्ष्य है-धन की प्राप्ति।

हमारे सामने धनवान बनने से उत्तम कोई आदर्श नहीं है। दृष्टान्त रूप में एक छोटी सी कथा है, "नारायण अपने को सोलह कलाओं द्वारा प्रकट करता है किंतु मूल में शाश्वत ब्रह्म तत्व भी वही है। "इसी प्रकार भौतिक नारायण (आजकल सौ पैसे) होते हैं। जब लोग रुपये को ही साक्षात् ईश्वर समझकर उसकी पूजा करने लगते हैं तो नारायण उनके लिए अगम्य हो जाता है। इससे उनकी कितनी हानि होती है, इसका अनुमान बिरले ही लगा पाते हैं।

एक दिन बातचीत के दौरान धन की देवी और भगवान की सहधर्मिणी लक्ष्मी ने नारायण से कहा, "स्वामी सारा विश्व मेरी पूजा करता है। सैकड़ों तो क्या, लाखों में एक भी व्यक्ति तुम्हारी पूजा नहीं करता।"इस कथन द्वारा उन्होंने नारायण को खिझाना चाहा। उन्होंने अपने स्वामी के समक्ष मनुष्य की परीक्षा लेने की एक योजना रक्खी। उन्होंने कहा, "स्वामी आइए, हम दोनों पृथ्वी लोक में चलें और सच्चाई का पता लगायें।"

नारायण सहमत हो गए। उन्होंने एक महान पण्डित का वेश बनाया, अपनी कलाइयों में सोने के कड़े पहने, जो इस बात के प्रमाण स्वरूप थे कि उन्हें अनेक विद्वत्सभाओं द्वारा आदर और प्रशंसा प्राप्त हुई। अपने गले में रुद्राक्ष माला पहनी, और मस्तक को विभूति की रेखाओं से सुशोभित किया। इस प्रकार उन्होंने अपने को पृथ्वी पर एक धुरंधर विद्वान के रूप में प्रकट किया। वे गांव-गांव जाने लगे और अपने आकर्षक प्रवचनों से लोगों का मन मोहने लगे। हजारों लोग उन्हें सुनने के लिए इकट्ठे होने लगे, और वे जहां भी जाते, उनके पीछे-पीछे भीड़ चलने लगती । उनके प्रतिभाशाली व्यक्तित्व से सभी प्रभावित थे तथा ब्राह्मणों ने अपने आवासों में उन्हें बुलाया और उनका सम्मान किया। उनका आगमन एक पर्व के रूप में मनाया जाता और ब्रह्मभोज का आयोजन किया जाता।

जब पृथ्वी पर नारायण का इस प्रकार जगह-जगह स्वागत सत्कार हो रहा था, लक्ष्मी भी एक महान योगिनी के रूप में पृथ्वी पर प्रकट हुईं। उन्होंने भी एक गांव से दूसरे गांव में जाना शुरू किया और अपने प्रवचनों द्वारा आत्मा के स्वरूप पर प्रकाश डालना शुरू किया। महिलायें उनके प्रवचनों को सुनने के लिए बड़ी संख्या में एकत्र होने लगीं, जैसे लहर पर लहर आ रही हो। वे लक्ष्मी से ये प्रार्थना करतीं कि वे अनके घर अवश्य पधारें, और

जो भी सुस्वादु भोजन उन्होंने तैयार किया है, उसे ग्रहण करें। इसके उत्तर में योगिनी उन्हें बतलातीं कि वे कुछ प्रतिज्ञाओं से बंधी हुई हैं जिसके कारण वे उनकी प्रार्थना स्वीकार करने में असमर्थ हैं। वे केवल उन पात्रों में भोजन नहीं कर सकती जिनका प्रयोग उनके घरों में हो रहा है। अत: वे तभी आएंगी जब वे अपने साथ अपने भोजन के बर्तन ला सकें। महिलायें उन्हें अपने यहां बुलाने के लिए इतनी उत्सुक थीं कि उन्होंने योगिनी की बात मान ली। उन्होंने कहा कि आप अपने किसी भी वचन का पालन कीजिए हमें सब स्वीकार है।" अब उन्हें प्रत्येक महिला से, जहां भी वे गईं निमंत्रण प्राप्त होने लगे।

योगिनी, जिस परिवार में उन्हें सर्वप्रथम भोजन करना था, वहां पहुंचीं, वहां उन्होंने अपने झोले से एक सोने की थाली, कुछ सोने की कटोरियां और एक सोने का लोटा पानी पीने के लिए निकाला और भोजन की अलग-अलग सामग्री के लिए उन्हें सजाकर अपने सामने रख लिया। जब भोजन समाप्त हो गया, वे उन सारे सोने के बर्तनों को गृहस्थ के लिए छोड़ कर वहां से चल दीं। पूछने पर बोलीं, "मैं प्रतिदिन नए बर्तनों में ही भोजन करती हूं।"

यह समाचार चारों ओर फैल गया। जिन गांवों में नारायण अपने सुंदर प्रवचन दे रहे थे, वहां के लोगों ने भी योगिनी के चमत्कार भरे दान की बात सुनी। फलस्वरूप जो ब्राह्मण उस दूर दूर तक प्रसिद्ध विद्वान के परम प्रशंसक थे, वे भी उस योगिनी को अपने घर आमंत्रित करने के लिए उसके पास दौड़े। योगिनी ने कहा, "मैं तुम्हारे गांव में तभी आ सकती हूं, जब तुम उस पंडित को वहां से निकाल दो। जब तक वह व्यक्ति वहाँ उपस्थित है, मैं वहां पैर भी नहीं रखूँगी।" इस बात पर वह दृढ़ थी । उधर उन ब्राह्मणों के मन में भी सोना प्राप्त करने का लालच इतना प्रबल था कि जिस पंडित की वे अभी तक इतनी श्रद्धा और आदर से पूजा करते थे, उन्होंने उसे अपना गांव छोड़ कर चले जाने लिए विवश कर दिया।

इसके पश्चात् योगिनी ब्राह्मणों के उस गाँव में गई, वहां प्रवचन दिए, अपने सम्मान में दी हुई दावतें स्वीकार कीं और जिन गृहस्थों के यहां उसने भोजन किया था, उन्हें सोने की थालियाँ, कटोरियाँ आदि दिए। इस प्रकार उस पंडित का जहाँ-जहाँ अभी तक मान-सम्मान हुआ था, योगिनी ने वहाँ-वहाँ

जाकर उसे उन स्थानों से अपमानित कर निकलवा दिया। अपने इस व्यापक अपमान को सहन करने में असमर्थ नारायण ने अपना वह पंडित का रूप त्याग दिया और पृथ्वी से अंतर्ध्यान हो गए। योगिनी को भी इसका पता चल गया। उसने भी अपने उस रूप को त्याग दिया और वास्तविक वेष में नारायण के पास चली गई। आपस में बात करते हुए, उन्होंने नारायण से कहा, "स्वामी बतलाइए, आपको क्या ज्ञात हुआ ? पृथ्वी पर हम दोनों में से किसकी अधिक पूजा और अर्चना होती है।" नारायण उनके प्रश्न पर मुस्कराये और बोले, "हाँ, जो तुमने कहा वह सत्य है।"

सच ही, शिक्षा और ज्ञान आजकल बाजार मे बिक रहा है। पैसा ही सब कुछ हो गया है। धन की खोज में पढ़े-लिखे लोग अपनी मातृ भूमि को छोड़ कर इधर-उधर भिखारियों की तरह दौड़े-दौड़े फिरते हैं। क्या वास्तविक शिक्षा का यही लक्षण है ?

चार

युगों से संचित अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रभाव स्वरूप भारत शताब्दियों से समस्त मानवता को अक्षय शांति और प्रसन्नता प्रदान करता रहा है। इस देश ने 'लोका: समस्ता: सु:खिनो भवन्तु' के आदर्श का ही प्रतिपादन समस्त विश्व में किया है।

भारतवासियों का यह सर्वोच्च लक्ष्य रहा है। इस पवित्र आदर्श के प्रचार प्रसार और प्रस्थापन के लिए यहां के प्राचीन शासकों ने, ऋषियों ने, धर्म-संस्थापकों ने, देवियों और माताओं ने अनेक कष्ट उठाये हैं, महान त्याग किए हैं। उन्होंने अपने सिद्धान्तों को ठुकराया है, और लोक कल्याण के स्वप्न के अनुरूप अपने जीवन को ढाला है।

बहुमूल्य और दुर्लभ पदार्थ अपने बाह्य सौंदर्य से हमें भले ही प्रभावित करें, किंतु जो नेत्र एक बार दैवी प्रकाश से खुल चुके हैं, उनके लिए वे तुच्छ ही प्रतीत होंगे। भौतिक सौंदर्य अथवा शक्ति आत्मिक सौंदर्य अथवा शक्ति

पर कभी हावी नहीं हो सकता। रजोगुण अहं को जन्म देता है और जहां भी स्वार्थ और गर्व का प्रदर्शन होता है, उसे सरलता से पहचाना जा सकता है। जब तक इस प्रकार के विचारों (चिंतन-पद्धति) और कर्मों का दमन न किया जाएगा, सतोगुण हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से प्रकट नहीं हो सकता और सतोगुण के अभाव में जो दैवी परम शक्ति है, जो शिव है, उसकी आराधना नहीं हो सकती, और न उसे प्रसन्न करके जीता जा सकता है।

हिमालय के सम्राट की पुत्री पार्वती सौंदर्य की खान थी। फिर भी उसे अपने शारीरिक सौंदर्य से उत्पन्न अहं को पूर्णतया नष्ट करने के लिए गहन साधना का आश्रय लेना पड़ा और उसे कठोर तपस्या के बाद ही सतोगुण (शिव) प्राप्त हो सका। पौराणिक कथा है कि कामदेव मन्मथ ने शिव के समक्ष पार्वती के अनंत सौंदर्य का केवल शारीरिक यौवन पक्ष रखना चाहा, फलस्वरूप उसे भस्म होना पड़ा। यह घटना इस बात की प्रतीक है कि जब तक व्यक्ति अहं के जाल में जकड़ा हुआ है उसे दैवी ज्ञान अर्थात् विद्या की प्राप्ति नहीं हो सकती। जब किसी साधक को विद्या प्राप्त हो जाती है, उसका अहं अपने आप नष्ट हो जाता है।

किंतु आजकल ज्ञान के साथ-साथ अहं और मिथ्याभिमान का होना अतिरिक्त गुण समझे जाते हैं। जब तक व्यक्ति इस पार्थिव संसार सम्बन्धी विषयों से प्राप्त ज्ञान के आकर्षण का मोह त्याग नहीं देता, तब तक उसे नैसर्गिक जन्मजात दिव्यत्य के दर्शन नहीं हो सकते। मोह और अभिमान रहित होकर ही हमारा व्यक्तित्व अपनी आत्म सत्ता, अपने दिव्यत्व को स्वीकार कर सकता है। हमारा अहं ही मन्मथ है, वही हमारे मन को सदैव मथा करता है, उसे भ्रमित करता रहता है, और उसे विद्या द्वारा ही नष्ट किया जा सकता है, भस्म किया जा सकता है। ईश्वर कभी किसी भौतिक सौंदर्य, सांसारिक सत्ता अथवा शारीरिक, बौद्धिक या आर्थिक शक्ति के सामने झुक नहीं सकता। कामदेव की कथा का यही वास्तविक सार है। पार्वती ने कठोर तपस्या की, अपने को अर्थात् अपने अहं तत्व को सूर्य की धूप, वर्षा, शीत और भूख-सभी से पीड़ित किया, और इस प्रकार स्वयं को आपूर्ण परिवर्तित कर लिया। तब जाकर शिव ने उन्हें अपनी अर्धांगिनी के रूप में, शक्ति के रूप में स्वीकार किया। यह वह स्थिति है जिसे आध्यात्मिक

उन्नति के क्षेत्र में सायुज्य कहा जाता है। यही मोक्ष या मुक्ति है। दोनों में कोई अंतर नहीं। सायुज्य मुक्ति मोक्ष की सर्वोत्तम स्थिति है। यथार्थ में विद्या में विनम्रता, सहन शीलता और अनुशासन तीनों निहित हैं। वह दुर्दृष्ठ, ईर्ष्या तथा सम्बन्धित अन्य सभी दुर्गुणों को नष्ट कर देती है। ऐसी विद्या ही आत्मिक विद्या है।

मोक्ष का अर्थ है 'छुटकारा'। सभी जीवधारी इस शरीर के बंधन से छुटकारा चाहते हैं। प्रत्येक प्राणी, इच्छा से अथवा अनिच्छा से एक मुमुक्ष है अर्थात् मुक्ति की कामना करता है। किंतु इसके लिए व्यक्ति को त्यागी बनना पड़ता है। यही अंतिम और अविवादास्पद सत्य है। जो लोग इस शरीर को छोड़कर इस संसार से चले जाते हैं, वह अपने साथ इस पृथ्वी की मुट्ठी भर धूल भी ले नहीं जाते जब व्यक्ति स्वत: त्याग करना नहीं सीखता, तो प्रकृति उसे उसकी मृत्यु के समय यह सत्य सिखाती है। उसे तब ज्ञात होता है कि जीवन में अनासक्ति और त्याग का कितना मूल्य है और उसके प्राण कितनी कठिनाई से निकलते हैं और जिन वस्तुओं और व्यक्तियों के मोह में वह अपना सारा जीवन गंवा देता है, वे सब यहीं रह जाती हैं। इसलिए उस क्षण के आने के पूर्व ही यदि यह पाठ सीख लिया जाए तो अच्छा है। जो व्यक्ति इसे जानता है और इसका अभ्यास करता है, वह भाग्यशाली है।

दूसरा अमूल्य गुण जो हमें विद्या से प्राप्त होता है, वह है अनासक्ति अथवा मोह का न होना। जल से भरे हुए पात्र में से जल निकाल दो। पात्र में भरे हुए जल में आकाश का जो प्रतिबिम्ब दिखलाई पड़ता था, वह भी जल के साथ ही विलीन हो जाता है। पर अब वास्तविक आकाश उस पात्र में प्रविष्ट हो जाता है। इसी प्रकार जब हम अनात्मा को निकाल देते हैं, तो जो रह जाती है वह आत्मा है और हमें मुक्ति प्राप्त हो जाती है। किन्तु हमें जिन वस्तुओं को त्यागना है, वे बाह्य नहीं हैं, भौतिक अवरोध नहीं हैं, त्याग तो अंतर्मन से होना हैं। बहुत से लोग सोचते हैं कि त्याग का अर्थ है दान में धन अथवा भूमि का दान, अथवा यज्ञादि कर्म करना, अथवा घर-बार परिवार, पत्नी और बच्चों को छोड़कर वन में रहने लगना। किंतु इस प्रकार के उपक्रम केवल दुर्बलता के द्योतक हैं। यह त्याग नहीं है। यह सब इतना कठिन नहीं है जितना यह मान लिया जाता है। यदि त्याग का यह अर्थ होता.

तो व्यक्ति सरलता से इन सबका पालन करके त्यागी कहलाने लगता। वास्तविक त्याग तो इच्छा अथवा कामना का त्याग है।

मानव जीवन का यही सच्चा लक्ष्य है; उसके सारे प्रयत्नों का यही उद्देश्य है। इच्छा-त्याग में सभी समाहित है वासना, क्रोध, लोभ, घृणा आदि का त्याग। अन्य भावनायें अथवा प्रवृत्तियां इसकी सहधर्मिणी, प्रतिक्रियाएं है। हम कहते हैं 'कोदण्ड पाणि' अर्थात् जिसके हाथ में कोदण्ड धनुष है। किंतु इसका अर्थ है कि धनुष के साथ-साथ उसके हाथ में बाण भी है। धनुष शब्द में बाण का अर्थ समाहित है ! इसी प्रकार जब हम कामना या इच्छा की बात करते हैं तो उसमें काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, मत्सर आदि सभी सम्मिलित हैं। ये सब के सब नरक की ओर खुलने वाले द्वार हैं। ईर्ष्या इसकी कुंडी है, तथा अहं इसकी कुंजी है। इसे खोलो और कुंडी हटाकर द्वार खोलो। तुम सरलता से प्रवेश कर सकते हो।

तुमने जो भी प्रज्ञान अर्जित किया है, क्रोध उसे दूषित कर देगा। अनियंत्रित इच्छा तुम्हारे सारे कर्मों को गंदा कर देगी। लालच तुम्हारी भक्ति और समर्पण भाव का नाश कर देगा। काम, क्रोध और लोभ व्यक्ति के कर्म, ज्ञान और भक्ति को कम करते हैं, और उसे एक जड़ बना देते हैं, किंतु क्रोध का मूल काम है, काम अज्ञान का फल है। इसलिए हमें जिस वस्तु से छुटकारा पाना है, वह हमारी जड़ता है, अज्ञान है।

जड़ता पशुता का लक्षण हैं। 'पशु क्या है ? 'पश्यति इति पशुः'-जो देखता है वह पशु है। कहने का अर्थ यह कि वह जो दिखाई देता है उसे सत्य मान लेता है वही पशु है। यदि उसकी अंतर्दृष्टि खुली है उसके ज्ञान चक्षु खुले हैं, तो वह पशुपति की श्रेणी में आ जाता है, और समस्त प्राणियों का स्वामी कहलाता है। अतः जिसने भी अपनी इंद्रियों को वश में नहीं किया वही पशु है। पशुत्व के साथ अनेक दुर्गुण आ मिलते हैं। व्यक्ति उससे छुटकारा पाने के कितना ही प्रयास करें, उनका सद्गुणों में परिवर्तन अत्यंत कठिनाई से होता है। पशु उनसे छुटकारा नहीं पाता। उसमें किसी अच्छे परामर्श को सुनने की क्षमता ही नहीं रहती। उदाहरणार्थ हम किसी शेर के बच्चे का पालन पोषण बड़े प्रेम और सावधानी से करें, और उसे सीधा और आज्ञाकारी होना सिखायें, किंतु जब वह भूखा होगा, तो उसे कच्चा मांस

ही रुचिकर लगेगा। वह आलू पूरी नहीं खायेगा। किन्तु मनुष्य को शिक्षित बनाकर उसका सुधार किया जा सकता है। इसीलिए हमारे धर्मग्रथों में कहा गया है, "सभी प्राणियों में मनुष्य की योनि में जन्म लेना सबसे सौभाग्यपूर्ण है।" वास्तव में संसार के सभी प्राणियों में मनुष्य ही सबसे पवित्र और भाग्यशाली है। कारण यह कि उसकी जन्मजात प्रवृत्तियों का परिष्कार संभव है। जिसका जन्म पशु के रूप में होता है, वह अपने प्रयत्नों और प्रशिक्षण से अपने को उठाकर पशुपति की श्रेणी में रख सकता है। पशु तो निर्दय ही जन्म लेता है और निर्दय ही मरता है।

इंद्रिय-संयम-रहित जीवन, जीवन कहलाने का अधिकारी नहीं है। मनुष्य को ईश्वर से अनेक क्षमतायें मिली हैं और यदि उनकी सहायता से वह अपनी इंद्रियों को वश में नहीं रख सकता और उन्हें उचित निर्देश नहीं देता, तो वह जितने वर्ष जीवित रहता है व्यर्थ है। इंद्रियों को वश में करने की इस प्रक्रिया में 'विद्या ददाति विनयं' -विद्या से विनय प्राप्त होती है। विनय द्वारा व्यक्ति को जीवन-व्यापार में लगने का अधिकार प्राप्त होता है। अधिकार से सम्पन्नता आती है। सम्पन्न व्यक्ति ही सद्जीवन व्यतीत कर सकता है और दान दे सकता है और सदाचारी जीवन ही इस पृथ्वी पर और मृत्यु के उपरांत उसे सुख और आनंद प्रदान कर सकता है।

पांच

शिक्षा वही है जो परम पिता परमात्मा की खोज से सम्बन्धित मनुष्य की आध्यात्मिक क्रियाओं की प्रवृत्ति और स्वभाव से हमें परिचित कराती है। सद्गुणों और सदाचार संहित्व के रूप में नैतिकता का चिंतन स्रोत बन कर उसे अपनी सार्थकता प्रमाणित करनी होगी। विद्या अपने में स्वयं ही एक दृश्य प्रमाण है। प्रत्येक धर्म में वही श्रद्धा का मूल है। वही मनुष्य के मन में धर्म के प्रति अनुशक्ति उत्पन्न करती है, और मनुष्य को उस पथ पर चलने का निर्देश करती है। इसी का नाम दर्शन है।

दर्शन का अर्थ है ज्ञान के प्रति प्रेम। ज्ञान तो अगणित समृद्धि का कोष

है। शिक्षा ज्ञान की अथक खोज का नाम है तो किसी प्रकार की बाधाओं से न घबराकर अनवरत मनुष्य को उससे प्रेम करने और उसे प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती रहती है। विद्या वस्तुओं के नाम और रूप के पीछे छिपी हुई यथार्थता को खोजने और प्राप्त करने का प्रयत्न करती है। इस सत्य को जानना है, और इसी आधार पर जीवित रहना है। इस सत्य का दर्शन करना है। यह काम विद्या ही कर सकती है। विद्या वह ज्योर्ति-पुंज है जो सम्पूर्ण जीवन में समाकर उसे जगमगा देती है। पाश्चात्य देशों में विद्या सम्प्रत्ययों और अनुमानों का वर्णन करती है पूर्व में विद्या सत्य और पूर्णत्व का निरुपण करती है। विद्या जिस सिद्धान्त की खोज में रहती है, वह इंद्रियों से परे होता है। मनुष्य शरीर, मन और आत्मा इन तीनों का सम्मिलित रूप है। फल स्वरूप उसके व्यक्तित्व में तीनों प्रकृतियाँ समाहित होती हैं। (१) निम्न अथवा पशु वृत्ति (२) सांसारिक ज्ञान और कौशल से भरपूर मानव वृत्ति (३) मानव की मूल प्रकृति अर्थात् दैवी आत्मिक वृत्ति। अपनी इस मूल प्रकृति को पहचानना और इसके साथ तदाकार होना यही विद्या है।

यह शरीर पांच, तत्वों से बना हुआ एक यंत्र है। यह तत्व है-पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। वह परमेश्वर दिखाई न देकर भी इस शरीर के साथ खेलता है।

शरीर एक वृक्ष है । 'स्वयं से प्रेम' इसकी जड़ है, इच्छायें इसकी शाखायें हैं जो चारों ओर फैली हैं, हमारी मूल प्रकृति पर आधारित हमारे गुण, विशेषतायें और विविध व्यवहार वे फूल हैं जो इस पर खिलते हैं। सुख और दुःख वे फल हैं जो यह प्रदान करता है।

मानव शरीर अपने में स्वयं एक विश्व है। रुधिर प्रवाहित होता है और शरीर के प्रत्येक अंग को जीवन प्रदान करता है। इसी प्रकार परमात्मा कण कण में व्याप्त है और विश्व के हर स्थल को गतिशील बनाता है।

इस विश्व का पथ प्रदर्शन करने वाला और इसकी रक्षा करने वाला केवल एक ही नियम है- प्रेम का नियम। प्रत्येक राष्ट्र अथवा समाज किस रूप में इसका पालन करता है, इस पर ही उसका सुख दुःख, अच्छा या बुरा जीवन निर्भर होता है। विपरीत अर्थ में जो बुरा है, वह भी अच्छा ही

है। वह हमें यह सिखाता है कि हमें किन बातों से और किन वस्तुओं से बचना चाहिए। जो आज बुरा है वह सदैव के लिए बुरा नहीं रहेगा। वह सदैव अल्प कालीन होता है। अच्छी और बुरी स्थितियां कभी भी पूर्णतया स्थायी नहीं होतीं। विद्या हमारे सम्मुख यह प्रकट करती है कि 'अच्छा' और 'बुरा' मनुष्य के मन की दुर्बलताओं और भावनाओं की प्रतिक्रिया मात्र है।

मनुष्य में 'श्रेष्ठ' और श्रेष्ठतर' वस्तुओं का अंतर समझने की क्षमता होनी चाहिए यदि कोई ऐसा नहीं कर सकता, तो वह अन्य सारी वस्तुओं का बहिष्कार करके केवल उसी वस्तु को पकड़े रहेगा जो उसे प्रथम बार अच्छी लगी थी। पर हमें यह समझना चाहिए कि जो श्रेष्ठता (बेहतर) है, उससे श्रेष्ठ को कोई हानि न होगी। जिस प्रकार अनैतिकता मनुष्य को नीति परायण बनने लिए प्रेरित करती है, उसी प्रकार विपत्तियां मनुष्य में करुणा और उदारता को भी जन्म देती हैं। पीड़ा में करुणा का नैसर्गिक बीज छिपा रहता है। यदि त्रुटियां न होतीं कष्ट न मिलते तो मनुष्य अब तक केवल एक ठूँठ अथवा पत्थर बन कर रह जाता । जो व्यक्ति यंत्रणा की पुकार को सुनकर उसकी तीव्रता का अनुमान नहीं लगा सकता और उसके निवारण के लिए तत्पर नहीं होता वह उस अंधे व्यक्ति के समान है जिसे अपने अच्छे बुरे का कोई ज्ञान नहीं हैं । अविवेकी व्यक्ति ही अंधे की तरह काम करते हैं। कामना से इच्छायें उत्पन्न होती है। इच्छायें ही जन्म और मरण का कारण हैं। जब मनुष्य इच्छा रहित हो जाता है, जो उसे जन्म और मरण के चक्कर से छुटकारा मिल जाता है। हमारा भावी जन्म हमारी अतृप्त इच्छाओं का ही परिणाम है, और उनके द्वारा ही निश्चित किया जाता है। जिनके मन में भौतिक सुखों के लिए इच्छा का लेशमात्र भी नहीं रहता, उन्हें ही आत्मसत्ता की अनुभूति हो सकती है।

यथार्थ में परमात्मा को जानने की कामना, उससे प्रेम करने की और उसके द्वारा प्रेम किये जाने की कामना हमे बंधन में नहीं डालती। जब ईश्वरीय चेतना की अनुभूति अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ होती है, तो उसकी दिव्य ज्योति से हमारी सभी भौतिक इच्छायें भस्म होकर राख बन जाती हैं। तब व्यकित की आत्म-सत्ता उस परमात्म-सत्ता की ओर उन्मुख होती है, और परमशान्ति में विलीन होकर आनन्द मग्न हो जाती है। इसलिए यह आवश्यक

है कि हमारी आत्मा अनात्मा से जो शरीर रूप में है अपना पूर्ण सम्बन्ध विच्छेद करदे, तभी उसे अमरता प्राप्त हो सकती है।

तुम्हारे जीवन के निर्माण में तुम्हारे विचारों का बहुत बड़ा महत्व है। इसीलिए तुम्हें यह सलाह दी जाती है कि अपने विचारों की ओर ध्यान दो और केवल सद्विचारों का स्वागत करो। मनुष्य विचारों का ढेर मात्र है। विद्या मानव-मन में सद् विचारों को स्थिरता प्रदान करती है और तब वह आत्मविद्या के स्तर तक पहुंच जाती है। उदाहरण के लिए 'कुर्सी' शब्द तुम्हारे मन में एक विशेष आकार को जन्म देती है जिसे 'कुर्सी' की संज्ञा दी गई है। यदि हम लकड़ी शब्द कहें तो उससे हमें उस नाम अथवा रूप का बोध न होगा। लकड़ी की तुम्हारी दृष्टि में क्या उपयोगिता है, इस पर ही उसके नाम तथा रूप का महत्व निर्भर है। तुम्हारा और इस भौतिक विश्व का संबंध भी ऐसा होना चाहिए कि इच्छायें अपने आप भाग जायें, न कि वे और व्यापक और तीव्र हो जायें।

सत्य तो यह है कि कोई भी व्यक्ति किसी भी वस्तु से उसके जन्मजात गुण के कारण प्रेम नहीं करता। वह केवल अपने स्वार्थ के कारण ही उसकी इच्छा करता है उससे प्रेम करता है। जब तक उसका कोई विशेष अभिप्राय न हो, मनुष्य एक डग भी आगे नहीं बढ़ाता। किंतु विद्या द्वारा प्राप्त ज्ञान से हमें पता चलता है कि जो इच्छा अथवा अभिप्राय मनुष्य को किसी कार्य के लिए प्रेरित करता है उसके लिए वह पूर्णतया उत्तरदायी नहीं है। यह उसके पूर्व कर्मों का ही फल है । ये कर्म ही हैं जो उसके स्तर को उठाते या गिराते हैं।

मृत्यु के समय कुछ ऐसी स्थितियां प्रकट होती हैं, जिनसे जीवन दुर्बल हो जाता है और अंततः समाप्त हो जाता है। किंतु आत्मा पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। आत्मा की मृत्यु नहीं होती। उसका विनाश नहीं होता। अतः मनुष्य को मृत्यु से डरना नहीं चाहिए। मृत्यु जीवन का दूसरा चरण छोड़कर अन्य कुछ नहीं है। व्यक्ति कितने ही दिनों से और कितने ही गंभीर रूप से बीमार क्यों न हो, अथवा उसे कितनी ही गहरी चोट क्यों न लगी हो, किंतु मृत्यु तभी होगी जब उसका ठीक समय आ जायेगा। जब जीवन की अभिलाषा समाप्त हो जाती है जो पुनर्जन्म नहीं होता ।

सभी हाथों को चलाने वाली सभी नेत्रों से देखने वाली तथा सभी कानों से सुनने वाली एकमात्र वही शक्ति है। वस्तुतः सभी प्राणी मात्र उस दिव्य तत्व से रचे गए हैं। मानव शरीर में मांस मज्जा और रक्त के वही तत्व एक समान पाये जाते हैं चाहे अमेरिका में हो, चीन में हो, अफ्रीका में हो अथवा भारत में हो। इसी प्रकार नैसर्गिक प्रवृत्तियाँ और चेतना भी सबमें एक-सी होती है। जब वैज्ञानिक साधनों द्वारा खोज की जाती है तो यह भी प्रदर्शित किया जा सकता है कि पत्थरों, वृक्षों और धातुओं में भी जीवन है।

आत्मा उस दिव्यत्व की एक चिनगारी है। साधकों द्वारा उसकी चिंरतन प्रकृति का पता लगाया जा सकता है। परमेश्वर एक है। व्यक्ति की कोई भी राष्ट्रीयता हो, कोई भी धर्म हो, वह निश्चय ही उस परब्रह्म से साक्षात्कार कर सकता है यदि वह आत्मविद्या में पारंगत हैं। एक परमेश्वर में विश्वास ही वास्तविक सार है वहीं केन्द्र बिन्दु है। अन्य मान्यतायें, संप्रत्यय अथवा अनुमान तो केवल उस केंद्र बिन्दु के चारों ओर घूमते हैं।

छः

प्रत्येक प्राणी का अनिवार्य प्रारब्ध पूर्णत्व को प्राप्त करना है। इसे न तो अस्वीकार किया जा सकता है, और न किसी प्रकार टाला जा सकता है। अपने पूर्वजन्मों के फलस्वरूप ही हम आज अपूर्ण हैं। कहने का तात्पर्य यह कि हमारे पूर्व जन्म के विचारों, भावनाओं, वासनाओं और कार्यों ने ही हमें इस दशा तक पहुंचाया है, जिसमें हम आज हैं। इसी प्रकार हमारे आज के विचारों, भावनाओं और कार्यों के आधार पर हमारे भावी जीवन का निर्माण हो रहा है। दूसरे शब्दों में, हम स्वयं ही अपने सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य के विधाता हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि मनुष्य को अपने भाग्य निर्माण में और दुर्भाग्य से बचने में अन्य व्यक्तियों से सहायता न लेनी चाहिए। यथार्थ में थोड़े से इने-गिने लोगों को छोड़ कर ऐसी सहायता की प्रत्येक को आवश्यकता है। जब किसी को यह सहायता मिल जाती है, तो उसकी आत्मा शुद्ध एवं पवित्र हो जाती है और उसकी आध्यात्मिक उन्नति भी शीघ्र होने लगती है।

अंत में व्यक्ति पूर्णत्व को प्राप्त हो जाता है।

यह दुर्लभ प्रेरणा पुस्तकों के पढ़ने से प्राप्त नहीं होती। यह केवल तभी प्राप्त होती है जब एक मानसिक तत्व दूसरे मानसिक तत्व से मिलता है। चाहे कोई व्यक्ति अपना सम्पूर्ण जीवन पुस्तकों के अध्ययन और पारायण में व्यतीत करदे, और चाहे बौद्धिक रूप से वह कितना ही कुशाग्र क्यों न हो जाए, पर आत्मोन्नति के मार्ग पर वह तनिक भी नहीं बढ़ सकता। यह अवांछनीय होगा क्योंकि एक व्यक्ति विद्वत्ता के शिखर पर पहुंच गया है, वह आध्यात्मिक प्रज्ञान के शिखर पर भी पहुंच गया है। विद्वत्ता और संस्कृति का सम्बन्ध कार्य-कारण का सा सम्बन्ध नहीं है। सांसारिक ज्ञान में कोई व्यक्ति कितना ही कुशल और विद्वान क्यों न हो जब तक उसका मन सुसंस्कृत नहीं है उसकी सारी विद्वत्ता व्यर्थ है, एक कूड़े के ढेर के समान है। अत: शिक्षा की वही प्रणाली सर्वश्रेष्ठ और फलदायक है जो हमें संस्कृति का ज्ञान देती है और हम जो कुछ भी सीखते हैं उसे परिष्कृत करने और उसे समाहित करने में हमारी सहायता करती है।

ग्रंथों के अध्ययन के फलस्वरूप दूसरे शब्दों में धर्म निरपेक्ष शिक्षा के फलस्वरूप व्यक्ति की बुद्धि तीव्र हो सकती है, उसका परिष्कार हो सकता है, मनुष्य आध्यात्मिक विषयों पर सुंदर भाषण भी दे सकता है। किंतु यह कहना भूल होगी कि उसी अनुपात में उसके आध्यात्मिक जीवन की उन्नति भी हुई है। दूसरे के द्वारा प्रदान की हुई शिक्षा कभी कभी हमारे हृदय में नहीं बैठती और उससे हमारे स्वभाव में परिवर्तन नहीं होता। यही कारण है कि जब तक आत्मिक संस्कार गहरे नहीं होते शिक्षा का कोई अर्थ नहीं। अर्थात् वह फलवती नहीं होती।

जिस महापुरुष के हृदय पटल पर आत्मिक सत्य अंकित है, उसको ही गुरू के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। इसी प्रकार वह व्यक्ति जो इस सत्य का स्वागत करता है और जो सच्चे अर्थों में जिज्ञासु है, उसे ही शिष्य बनने का अधिकार है। जन्म से ही बीज में यह जीवन सिद्धान्त निहित होना चाहिए। खेत को अच्छे ढंग से जोतना चाहिए और उसे बुवाई के लिए तैयार करना चाहिए। यदि इन बातों का ध्यान रक्खा जाता है तो निश्चय ही आध्यात्मिक फसल उत्तम होगी। श्रोता में एक स्वच्छ ग्रहण-बुद्धि

होनी चाहिए, अन्यथा ज्ञान के आधार-भूत जो दार्शनिक सिद्धान्त है, समझ में न आएंगे। गुरु और शिष्य दोनों को इस स्तर का होना चाहिए। अन्य लोग जिनमें ऐसी योग्यता अथवा प्रामाणिकता नहीं है, आध्यात्मिक क्षेत्र में निरुद्देश्य केवल खिलवाड़ करेंगे और उसमें विध्न डालेंगे।

इन तथाकथिक विद्वानों और संस्कृति के ठेकेदारों की तुलना में अनेक ऐसे गुरु हैं जिनकी विद्वत्ता गंभीर है और जिनकी क्षमतायें व्यापक हैं। ये महापुरुष परम पिता परमात्मा के मानव अवतार हैं। वे अपने संकल्प मात्र से आध्यात्मिक शक्ति का वरदान प्रदान करते हैं। वे आज्ञा देते हैं और उनकी आज्ञा मात्र से निम्न कोटि का व्यक्ति सिद्धपुरुष की कोटि में पहुंच सकता है। ऐसे व्यक्तित्व, गुरुओं के भी गुरु होते हैं। वे मानव रूप में ईश्वरीय सत्ता के सर्वोच्च स्वरूप हैं। मनुष्य ईश्वर की कल्पना मानव रूप में छोड़ कर किसी दूसरे रूप में नहीं कर सकता। मनुष्य की सतत प्रार्थनाओं के उत्तर में ही वह मानव रूप धारण करता है, क्योंकि मनुष्य भगवान के उस स्वरूप को ही सत्य समझ कर अनुभव कर सकता है। जब कभी वह अपने मन में ईश्वर के किसी अन्य स्वरूप का ध्यान करता है, उसके सामने कई बार अत्यंत विचित्र और भद्दे रूप सामने आते हैं, और उसे उन रूपों को परमात्मा-रूप मानने के लिए कठोर प्रयास करना पड़ता है। किसी अज्ञानी व्यक्ति ने शिव की मूर्ति बनाने का निश्चय किया। उसे तैयारी में कई दिन लग गए। अपने सतत परिश्रम के बाद उसने जो मूर्ति बनायी वह 'वानर' की मूर्ति थी। जब तक हम मनुष्य के रूप में हैं हम अपनी कल्पना में ईश्वर को मनुष्य के रूप में छोड़कर किसी और रूप में सोच नहीं सकते। अतः मनुष्य को उसे अवतार की राह देखनी पड़ती है जब वह मानवत्व के ऊपर उठकर उस ब्रह्म सत्ता की अनुभूति और दर्शन कर सके।

यदि हम प्रज्ञान सहित सामान्य तर्क के आधार पर उस परम सत्ता का पता लगाना चाहें तो हमारे हाथ शून्य ही लगेगा। जब ऐसे व्यक्ति अवतारों की आलोचना करते हुए भाषण देते हैं, उस समय यदि तुम वहां उपस्थित हो और सुन रहे हो तो तुम्हें उस वक्ता से पूछना चाहिए, "मान्यवर ! क्या आप सर्व शक्तिसत्ता और सब्र व्यापकता का अर्थ जानते हैं ?" मनुष्य अपनी इंद्रियों द्वारा अनुभूत स्थूल प्रकृति तक ही सीमित है। इसी लिए वह इन विचारों

को समझने में असमर्थ है। वक्ता महोदय इन के विषय में उतने ही अनभिज्ञ होते हैं, जितना कि एक सामान्य बिना पढ़ा लिखा व्यक्ति। ऐसे लोग यद्यपि विचार और दर्शन की व्यापक क्षितिजों से अपरिचित होते हैं और अपने उपदेशों से अनेक भ्रांतियां और कष्ट उत्पन्न करते हैं।

आध्यात्मिक शिक्षा वस्तुत: सत्य का अनुभव, उसकी अनुभूति है। सुंदर भाषण को सत्य का अनुभव समझने की भूल नहीं करना चाहिए। सत्य का अनुभव तो हमारी आत्मा के अंतरतम आवास में होता है।

सृष्टि की रचना में मनुष्य जिस रूप में उत्पन्न हुआ है, वह ब्रह्म को भी मनुष्य के रूप में देख सकता है। इससे छुटकारा नहीं है। यदि भैंसे ईश्वर की पूजा करने के लिए उत्कण्ठित हों तो अपनी प्रकृति के अनुसार वे ईश्वर को एक दैवी भैंसे के रूप में ही देखेंगे। इसी प्रकार जब मनुष्य उस ब्रह्म तत्व की कल्पना करता है तो वह मानव अंगों तथा मानव-गुण और स्वभाव वाले परम (परमेश्वर) की कल्पना करता है।

मनुष्य, भैंस अथवा मछली ये तो केवल पात्र के समान हैं। यह मानकर चलो कि ब्रह्म रूप तो अपार महासागर है और ये सारे पात्र उस महासागर में अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार अपने को ब्रह्म तत्व से भर लेते हैं। इसमें प्रत्येक अपनी माप और आकार के अनुसार ही उस जल तत्व को प्राप्त करता है। क्या ऐसा नहीं है ? मनुष्य रूपी पात्र ईश्वर को मनुष्य रूप में ही स्वीकार करेगा, भैंसा रूपी पात्र भैंसे के रूप में और मछली रूपी पात्र मछली के रूप में उसे स्वीकार करेगा। इन सभी पात्रों में दिव्यत्व के महासागर से लिया हुआ जल एक ही है। मनुष्य अपने नेत्रों के सम्मुख ईश्वर की कल्पना करता है तो वो ईश्वर को मनुष्य रूप में ही देखता है। हर प्राणी ईश्वर पर अपना स्वरूप आरोपित करता है।

सात

मानव एक बीज के समान है। जिस प्रकार बीज एक पौधे में स्फुटित होता है और निरन्तर बढ़ता हुआ अंत में एक वृक्ष बन जाता है, मनुष्य को अपने उत्तरोत्तर विकास द्वारा पूर्णत्व प्राप्त करना है। अपने इस लक्ष्य तक पहुंचने के लिए मनुष्य को ज्ञान के दो क्षेत्रों पर अधिकार होना आवश्यक है। पहला तो है इस विश्व का ज्ञान अर्थात् ईश्वर द्वारा रची हुई इस सृष्टि का ज्ञान, दूसरा है, इस विश्व से परे अपर विश्व का ज्ञान। प्रथम प्रकार का ज्ञान जीवन-निर्वाह का साधन प्रदान करता है, और दूसरा ज्ञान जीवन परमावधि अर्थात् जीवन के वास्तविक लक्ष्य की ओर ले जाता है। जीवन निर्वाह के साधन हमारी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। हमें ये पदार्थ प्राप्त करने पड़ते हैं, और उन्हें भविष्य के लिए इकट्ठा करना पड़ता है। या फिर इतनी क्षमता उत्पन्न करनी पड़ती है कि हम जब चाहें ये वस्तुएं प्राप्त कर सकें। जीवन-लक्ष्य का ज्ञान हमें इस प्रकार के प्रश्नों का हल खोजना पड़ता है, "व्यक्ति को किसलिए जीवित रहना चाहिए ?" "इस सम्पूर्ण जगत का रचयिता कौन है ?" "सही रूप में मैं क्या हूँ। यह विशिष्ट व्यक्ति जो अपने को मैं कहता है वह 'मैं' क्या है?" इन प्रश्नों की शोध अंततः हमारे सम्मुख हमारा लक्ष्य प्रकट कर देती है। सभी धर्मों के धर्म ग्रंथों और उनके द्वारा निर्धारित अनेक आचार-संहिताओं का सम्बन्ध ऐसी समस्याओं से रहता है जो इस विश्व की सीमा से परे हैं। उदाहरणार्थ हम इस संसार में क्यों हैं ? हमें यह जो मानव जीवन का सुअवसर मिला है उसका किस प्रकार उपयोग करना चाहिए और अंततोगत्वा 'हमारी परिणति कहां है।"

इस संसार में रहने लिए मनुष्य के लिए सबसे लाभदायक मार्ग क्या है ? उत्तर है, एक नियमित और अनुशासित जीवन व्यतीत करना। वास्तविक शिक्षा वही है जो हमें इन मर्यादाओं और बंधनों का पालन करना सिखाती है। हम संसारिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए कितना कष्ट उठाते हैं। हम अपने शरीर को बलशाली बनाने के लिए कठोर नियमों का पालन करते हैं। हमारा जो भी उद्देश्य होता है, उसकी पूर्ति के लिए निर्दिष्ट संहिता का पूर्ण पालन करते हैं।

अनुशासित विचार और आचरण से वस्तुतः क्या लाभ हैं ? प्रारम्भ में तो सारे निर्देश तथा नियम अत्यंत सरल होते हैं। फिर वे मनुष्य को इंद्रियों की पहुंच से बाहर के लोकों से परिचित कराते हैं। तत्पश्चात् व्यक्ति मन से परे स्थित इन लोकों में भी विचरण कर सकता है। इतना ही नहीं, एक ऐसी स्थिति भी आती है जब मानव शरीर प्रदत्त समस्त साधनों और शक्तियों की पहुंच की जो अंतिम सीमा है, उससे भी आगे के 'लोकों' में वह विचरण कर सकता है। अंततोगत्वा व्यक्ति को यह प्रतिभासित होता है, और वह इसका अनुभव करता है कि सत्यों का सत्य क्या है ? इस अखिल ब्रह्माण्ड में व्याप्त वह एक शक्ति (जिसे हम एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति कहते हैं) क्या है। जब व्यक्ति आस्था और आत्म ज्ञान की इस स्थिति में पहुंच जाता है, तो वह परमानंद से पूर्ण हो जाता है। यही विद्या है, यही यथार्थ शिक्षा की उपलब्धि है सर्वोत्तम शैक्षिक प्रक्रिया का चरम बिन्दु है। इस प्रक्रिया के मध्य विद्या में संयोगवश समाज के आदर्श सम्बन्धों का भी ज्ञान कराती है। वह यह भी बतलाती है कि मनुष्य और मनुष्य के बीच वांच्छनीय सम्बन्ध क्या हैं? वह व्यक्तियों, जातियों, राष्ट्रों और समुदायों के बीच सबसे हितकारक सम्बन्धों का ज्ञान कराती है और हमें यह भी बतलाती है कि दैनिक जीवन में हमारा रहने का ढंग और आचार-विचार कैसा होना चाहिए। विद्या हमारे हृदयों में इन सद्विचारों को अत्यंत गहरे आरोपित करती है, जिससे सुचारु रूप से मानव की उन्नति हो सके।

संसार के समस्त व्यवसायों में अध्यापक का व्यवसाय ऐसा है जिसमें सत्य का निष्ठा से पालन होना चाहिए। जब शिक्षक सत्य पथ से भटक जाते हैं, तो समाज के लिए उसके परिणाम घातक होते हैं। हजारों कोमल बालक, जो संसार के तौर-तरीकों से अनभिज्ञ होते हैं, उनके हाथों से निकलते हैं। स्वाभाविक है कि उनकी शिक्षा तथा व्यक्तित्व का जो प्रभाव उन पर पडता है, स्थायी हो । इसलिए शिक्षक को दुर्व्यसनों से मुक्त होना चाहिए। क्योंकि बालक अपने आप बड़ों की आदतों और व्यवहार को अपना लेते हैं। यह भय सदैव विद्यमान् है। जब कोई दुष्प्रभाव एक व्यक्ति से अनेक में फैलता है, तो समाज दूषित हो जाता है और कालान्तर में यह सामाजिक दोष किसी न किसी रूप में शिक्षक पर भी अपना प्रभाव डालता है। 'स्वामी ! आपने

तो मुझे यही शिक्षा दी है, गीत की एक पंक्ति है। फलस्वरूप वह शिक्षक स्वयं अपने विद्यार्थियों द्वारा ही अपमानित होता है। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि स्वयं को गुणों से विभूषित करे। राजा का आदर केवल अपने राज्य में होता है। उसकी पूजा केवल उसके राज्य की सीमाओं तक ही सीमित है किंतु गुणी व्यक्ति का सब जगह आदर होता है।

शारीरिक दृष्टि से एक व्यक्ति असाधारण सुंदर हो सकता है। उसमें युवकत्व का तेज हो सकता है। वह अपने कुलीन वंश की डींग मार सकता है, किंतु उसमें उन गुणों का अभाव है जो उसे विद्या से प्राप्त हो सकते हैं। ऐसे व्यक्ति की तुलना एक ऐसे फूल से की जा सकती है जो सुंदर तो है पर जिसमें सुगंध नहीं है।

मोहनदास कर्मचन्द गांधी ने अपने बचपन में ही अपनी माँ के साथ एक नाटक देखा था, माता पिता के प्रति श्रवण की भक्ति और उसे देखकर उन्होंने निश्चय कर लिया कि जीवन में वे भी श्रवण कुमार बनेंगे। उन्होंने सत्य हरिश्चन्द्र नाटक देखा और इस नाटक का उनके मन पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि उन्होंने निश्चय किया कि वे भी जीवन में राजा हरिश्चन्द्र की भांति सत्यवादी बनेंगे। इन सब घटनाओं का उन पर इतना प्रभाव पड़ा कि वह स्वयं एक महात्मा बन गए। जिन दिनों गांधीजी एक स्कूल में पढ़ते थे उनके एक शिक्षक ने उन्हें गलत मार्ग पर चलने की राय दी। किंतु गांधी जी ने उसे अस्वीकार कर दिया। फलस्वरूप वे इतने आत्म बली हो गए कि उन्होंने इस देश को स्वराज्य दिलाया। इस भारत देश में हजारों की संख्या में होनहार महात्मा विद्यमान हैं, किंतु हमें उनके समक्ष ऐसे स्त्री पुरुषों के उदाहरण रखने चाहिए जिन्होंने आत्म-विद्या सीखी है और जीवन में उसका प्रयोग किया है।

सनातन धर्म, हमारी भारतीय संस्कृति का प्रतीक, अत्यंत मूल्यवान माना गया है, भारतीयों द्वारा ही नहीं, वरन् विश्व के सभी देशवासियों द्वारा। इसका मुख्य कारण यह है कि वह वेदों पर आधारित है। 'वेदोखिलो धर्म मूलम्'-वेद ही समस्त नीति और धर्म के सिद्धान्तों का स्रोत हैं। मनुष्य को सभी पशुओं और प्राणियों में सर्वश्रेष्ठ पद प्राप्त है, किंतु उसकी रक्षा के लिए जिन कार्यों और प्रवृत्तियों की आवश्यकता है, उस आचार संहिता को

ही धर्म कहते हैं। धर्म में वे सभी सिद्धान्त निहित हैं। जीवन में मनुष्य को जिन अधिकारों और कर्त्तव्यों का पालन करना आवश्यक है, वेद उनके अक्षय कोष हैं।

प्राचीन गुरुकुलों में शिक्षा की समाप्ति पर गुरु अपने शिष्य को ऐसा अमूल्य उपदेश देता था जो किसी भी देश के शिष्यों को अपने आचार्यों से नहीं मिलता था। 'मातृ-देवो भव' तुम्हारी मां तुम्हारी ईश्वर हो; 'पितृदेवो भव-तुम्हारे पिता तुम्हारा ईश्वर हो, 'आचार्य देवो भव' तुम्हारा गुरु तुम्हारा ईश्वर हो। सत्यंवद धर्मं चर, नो इतराणि-सत्य बोलो, धर्मानुकूल आचरण करो, कोई दूसरा मार्ग मत अपनाओ। गुरु के ये उपदेश होते थे-ये निर्देश थे। 'सभी अनैतिक कार्यों का त्याग करो। अपने को केवल ऐसे कार्यों में लगाओ जिनसे तुम्हारी उन्नति हो।' यह उपदेश था। जब वेद और उपनिषद ये कहते हैं कि हमें पृथ्वी पर शांति स्थापना की प्रार्थना करते समय 'शांतिः का उच्चारण करना चाहिए, तो वे इन्हीं निर्देशों की ओर संकेत करते हैं।

इस अवसर पर जो भी उपदेश शिष्यों को दिए जाते हैं, उनका प्रत्येक शब्द अत्यंत सारगर्भिति होता है। अपने माता-पिता की अनन्य सेवा के बल पर ही धर्मव्याध को अक्षय कीर्ति प्राप्त हो गयी। सत्य के प्रति अपनी सतत और अनन्य निष्ठा के बल पर राम और हरिश्चन्द्र अमर हो गए। सदाचार और धर्म परायणयता के आधार पर अनेक सामान्यजन महापुरुषों की कोटि में पहुंच गए। बुद्ध ने जीव दया का पाठ पढ़ाया और प्राणिमात्र को कष्ट पहुंचाने से मना किया। उनके अनुसार अहिंसा ही परम धर्म है। फलस्वरूप विश्व गुरु के रूप में उनका आदर किया जाता है।

इन मर्यादाओं और अनुशासनों का पालन की सच्चा तप है। मनुष्य के त्रिकारणों में मन सर्वप्रमुख है। यदि हम मन की रक्षा कर लेते हैं, तो मोह, वासना और क्रोध इनका प्रवेश न हो सकेगा। ये चरम सीमायें मन के लिए स्वाभाविक हैं काम, क्रोध, लोभ, मोह मद और मत्सर की भयंकर लहरें हमारे मन रूपी सरोवर को सदैव आंदोनित करती रहती हैं। ये ही मनुष्य के अंतर्शत्रु हैं। पहले दो अपने साथ में शेष चारों को ले आते हैं। अतः प्रथम इन दो से छुटकारा पाने के लिए और अध्यात्म के पथ पर बढ़ने के लिए साधना की आवश्यकता है। विद्या द्वारा ही यह सब सम्भव है।

आठ

बिना किसी लाभ की इच्छा के जो कार्य केवल कर्त्तव्य भाव अथवा प्रेम भाव से किया जाता है, वही योग है। ऐसा योग मनुष्य की पशु वृत्ति का नाश करता है और उसे दैवत्व की कोटि में ला बिठाता है। दूसरों को आत्म-बंध समझ कर उनकी सेवा करो। इससे तुम्हारी आध्यात्मिक उन्नति में सहायता मिलेगी और आध्यात्मिक सीढ़ी पर तुम जहां तक चढ़ चुके हो, वहां से फिसलने न पाओगे। प्रतिज्ञा और पूजा से सेवा का स्थान कहीं ऊंचा है। सेवा तुम्हारे अंदर छिपी हुई स्वार्थ भावना को छिन्न-भिन्न कर देती है। वह तुम्हारे हृदय द्वारों को खोल देती है, और हृदय को विकसित कर देती है।

अतः निरभिलाषी होकर कार्य करना मनुष्य का सर्वोच्च आदर्श है। जब मनुष्य का जीवन-प्रसाद इस नींव पर खड़ा होता है, तो निस्काम सेवा के सूक्ष्म प्रभाव स्वरूप, अपने आप सारे गुण, सिमट कर मनुष्य में आ जाते हैं। सेवा यथार्थ में मन की आंतरिक पवित्रता की वाह्य अभिव्यक्ति है।

सेवा का यह आदर्श और उसे व्यवहार में लाने की उत्कण्ठा ही शिक्षा का हृदय है। सेवा की विशिष्ट अभिव्यक्ति शुद्ध प्रेम में होती है। यही शिक्षा है। इसके अतिरिक्त शिक्षा और कुछ नहीं। जो लोग मानव मात्र को परमात्मा की संतान समझकर उसका भला करते है ईश्वर उनसे प्रेम करता है। ऐसे लोग ही अपने देश वासियों के लिए आदर्श भाइयों के समान हैं। वे ही आत्म-ज्ञान के पात्र हैं और उसे प्राप्त करते हैं।

जो भी व्यक्ति अपना धन, शक्ति, बुद्धि तथा भक्ति मानव मात्र की उन्नति के लिए समर्पित करता है, ऐसे व्यक्ति का आदर करना चाहिए। ऐसे व्यक्ति किसी सद् उद्देश्य के लिए जन्म लेते हैं और बिना किसी अहं भावना के सेवा के वचन का पालन करते हैं।

जो व्यक्ति दूसरों की प्रगति की वृद्धि में हृदय से प्रेरित होकर अपने धन, कौशल बुद्धि, पद और स्थिति-सभी को उस ओर लगाते हैं, तो निश्चय ही वे महान कहे जा सकते हैं। ऐसा व्यक्ति निश्चय ही निस्वार्थ सेवा के वचन को पूर्णतया पालन करते हैं। जो व्यक्ति अपने मूल कर्त्तव्यों और दायित्वों

के प्रति जागरूक है, और अपना समय इनके निर्वाह में व्यतीत करता है, जीवन में अत्यंत शांति का अनुभव करेगा, चाहे वह किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो। उसके माध्यम से उसके पास पड़ोस के लोग भी उस शांति के साझीदार होंगे।

विद्या व्यक्ति को बाध्य करती है कि वह त्याग की अग्नि में अपने सकुंचित अहं को भस्म कर दे और उसके स्थान पर मानव प्रेम का पोषण करे, क्योंकि उसकी नींव पर ही आध्यात्मिक विजय का ऊपरी ढांचा खड़ा है। असीम प्रेम ही मन को शुद्ध कर उसे पवित्र बनाता है। अपने विचारों को प्रभु में केन्द्रित करो, अपनी भावनाओं और उद्वेगों को निर्मल बनाओ और अपनी समस्त क्रियाओं को निस्वार्थ सेवा का रूप दो। इस प्रकार अपने मन, हृदय और हाथों को शिवम् से ओत-प्रोत कर दो विद्या द्वारा ही यह परिष्कार संभव है। सर्व प्रथम वह सेवा के रहस्य का स्थापन करेगी। सेवा वही है जो सब प्रकार से हमें आनंद प्रदान करे। विद्या का धर्म है कि वह इस बात पर बल दे कि सेवा के नाम पर किसी अन्य को कोई हानि, कष्ट अथवा दुःख न हो।

सेवा करते समय हमारा दृष्टिकोण यह न होना चाहिए कि हम उसे स्वान्तः सुखाय कर रहे हैं। सेवा तो हमें जीवनयापन का एक अभिन्न अंग समझ कर करनी चाहिए। यह विद्या का वास्तविक मूल है। जिस प्रकार घर बनाते समय ईंट और गारे की आवश्यकता पड़ती है, सेवा कार्य को विद्या की आवश्यकता पड़ती है क्योंकि अपने कर्त्तव्य-पालन हेतु मन, वचन और कर्म की निर्मलता के लिए विद्या ही हमारे निश्चय को दृढ़ बनाती है। देश और विश्व की उन्नति के लिए इस प्रकार की विद्या ही सही कुंजी है।

वह कौन सा रहस्य है जिसके आधार पर मानव जाति को शांति और सम्पन्नता का आश्वासन प्राप्त हो सकता है। इसका एक ही रहस्य है, "बिना बदले की भावना से दूसरों की सेवा करना।" "कर्म जो हमें बांधता है एक विशाल शीघ्र बढ़ने वाले वृक्ष के समान है। जिस कुल्हाड़ी से हम इस वृक्ष की जड़े काट सकते है वह है अपने प्रत्येक कर्म को भगवान की पूजा समझकर करना। यही वास्तविक यज्ञ है; हमारी पूजा का सबसे महत्वपूर्ण अनुष्ठान

है। इस प्रकार का त्याग हमें ब्रह्म विद्या प्रदान करता है, और उसका संवर्धन करता है। यह स्मरण रहे कि सेवा की लालसा हमारे शरीर की प्रत्येक शिरा में प्रवाहित होनी चाहिए, हमारी अस्थियों में प्रविष्ट होनी चाहिए, और प्रत्येक कोष को गति प्रदान करने वाली होनी चाहिए। जो लोग आध्यात्मिक साधना में रत होते हैं, वे सेवा के प्रति इस दृष्टि कोण के अभ्यासी होते हैं।

सेवा प्रेम-सुमन का विकसित रूप है, जो हमारे मन को प्रमुदित कर देता है। निश्छलता और सदाशयता इस प्रसून का सौरभ है। अपने छोटे-छोटे कार्यों को भी करुणा और आदर से सुगंधित होने दो। विश्वास रखो कि इससे तुम्हारा चरित्र अत्यधिक उज्ज्वल होगा। 'संतोष परमं सुखम्'। जहां कठोरता नहीं है वहां पवित्रता विकसित होगी, और सद्गुणों का निखार होगा। जहां लोभ की प्रबलता होगी, वहां कपट का राज्य होगा। व्यक्ति को तटस्थ जीवन व्यतीत करने की इच्छा का त्याग करना चाहिए। वह अकेले सांड़ की तरह घूम नहीं सकता। स्वप्न में भी इसकी कामना न करो।

विद्या यह बतलाती है कि सर्वप्रथम अपने को स्मरण करो। पहले स्वयं में परिवर्तन करो, उसके बाद दूसरों को सुधारने की चेष्टा करो। इस इंद्रियग्राही संसार के प्रति जो हमारा विभ्रमकारी मोह है, उसका जड़ से नाश करना होगा और यह केवल ईश्वर की पूजा समझ की गई निस्वार्थ सेवा द्वारा ही संभव है। मातृभूमि के प्रति प्रेम और भक्ति मानव मात्र के प्रति प्रेम से कहीं कम महत्वपूर्ण है। सच्ची भक्ति सर्वजनीन, सर्वकालीन और सर्वव्यापी होती है।

तुम्हारे कार्य, तुम्हारी मुद्रा, तुम्हारी दृष्टि, तुम्हारी वाणी, तुम्हारे खान-पान की आदतें, तुम्हारी वेष भूषा, तुम्हारी चाल ढाल इन सभी के द्वारा तुम्हारी प्रकृति का पता चलता है। अतः इस ओर विशेष ध्यान दो कि तुम्हारी वाणी, तुम्हारा चलना-फिरना, तुम्हारे विचार, तुम्हारा व्यवहार-यह सब अभद्र और असभ्य न होकर सात्विक, प्रेमपूर्ण और शिष्ट हो। तुम्हें यह सोचकर कि अन्य लोगों से तुम्हें न जाने क्या-क्या उत्तम गुण सीखने हैं, विनय शील बनना चाहिए। तुम्हारा उत्साह, तुम्हारी महत्वाकांक्षा, तुम्हारा संकल्प, तुम्हारी कार्यक्षमता, तुम्हारे ज्ञान का भंडार, तुम्हारा प्रज्ञान-इन सबका उपयोग केवल अपने हित में न करके जनहित में

करना चाहिए। तुम्हारे हृदय में मानवमात्र का कल्याण समाहित होना चाहिए। तुम्हारी विचार धारा ही इन्हीं निर्दिष्ट मार्गों से प्रवाहित होनी चाहिए।

भोजन करना भी एक पवित्र कर्म है- एक यज्ञ है। जब हम चिंतित हों, और मानसिक तनाव के शिकार हों, तब हमें भोजन न करना चाहिए। भोजन को हमें जीवन दाता तथा भूख की बीमारी के लिए औषधि रूप में करना चाहिए। अपनी मानसिक शक्ति के विकास के लिए और बलशाली बनने के लिए प्रत्येक आने वाली आपत्ति को एक स्वर्ण अवसर समझो और डटकर उसका सामना करो।

विविध रूपों में प्रदर्शन प्रकृति का स्वभाव है, एकता में लय होना दिव्यत्व का लक्षण है। अतः यदि कोई व्यक्ति किसी भी अन्य व्यक्ति से घृणा करता है, अथवा उसका अपमान करता है, अथवा उसे नीचा दिखाने का प्रयास करता है, वह महा मूर्ख है, क्योंकि दूसरे का नहीं स्वयं अपना ही अपमान करता है, अपने से घृणा करता है और अपने को नीचा दिखाता है। बात केवल इतनी है कि वह इस सत्य से अवगत नहीं है। विद्या मनुष्य को इस सत्य में प्रति स्थापित करती है, और सब में अंतर्निहित दिव्यता प्रदर्शित करती है।

अपने हृदयोद्यान में दिव्यत्व के गुलाब का पौधा लगाओ, विनय की चमेली उगाओ, उदारता का चम्पक खिलाओ। प्रत्येक विद्यार्थी की दवा की पेटी में विवेक की टिकियाँ, आत्मसंयम के द्रवबिन्दु तथा श्रद्धा, भक्ति और धैर्य के तीन पाउडर अवश्य होने चाहिए। इन दवाओं के उचित प्रयोग से वह निश्चय ही अज्ञान की भंयकर बीमारी से बच सकता है।

इस संसार में अनेक विध्वंसकारी शक्तियां काम कर रही हैं। किंतु सौभाग्य से उसके साथ साथ अनेक रचनात्मक शक्तियां भी काम कर रहीं हैं। विद्या के जिज्ञासुओं को यंत्रों तथा बमों का उपासक नहीं बनना चाहिए। उन्हें स्वयं को माधव तथा मंत्रों के उपासक के रूप में अपने को बदलना चाहिए। अधिकार और सत्ता मनुष्य को मदान्ध बना देती है। ये मनुष्य को दूषित और विषैला बना देती है और अंततः वह स्वयं को ही नष्ट कर डालता है। वे दुभार्ग्य को जन्म देती है। किंतु विद्या उन्हें पूर्णता और सौभाग्य प्रदान करती है।

नौ

जिस वस्तु पर हम जितना विश्वास करेंगे, उसी के अनुपात में हमें उस वस्तु से लाभ प्राप्त होगा। देवताओं की पूजा करने से, तीर्थ यात्रा करने से, मंत्रोच्चारण से, अथवा डाक्टरों के पास इलाज कराने से हमें उसी मात्रा में लाभ होगा, जितना कि हमें विश्वास है। जब कोई व्यक्ति प्रवचन देता है तो जितना हम उसकी विद्वत्ता पर विश्वास करते हैं, उतनी ही स्पष्टतया और सहज रूप में हम उसके द्वारा प्रतिपादित विषय को अपने हृदय में उतार सकते हैं। आस्था के विकास तथा ग्रहणशीलता पनपने के लिए हृदय, विचार-क्षेत्र तथा चित्त की निर्मलता अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि जब विविध सांसारिक और भौतिक बंधनों के बीच एकाएक स्वप्रतिष्ठित आत्मा का आत्म-शोधन किया जाता है तो उस प्रयत्न के पीछे मूल अर्थात् हृदय की प्रेरणा होना आवश्यक है। जब तक वह तीव्र संकल्प का परिणाम नहीं है, सारे प्रयत्न व्यर्थ चले जाएंगे।

सर्वप्रथम हमें अपने चित्त को इस प्रपंच (मायावी संसार) से हटा लेना चाहिए तथा उसे अन्तर्मुखी बना कर आत्मा की ओर लगाना चाहिए। अच्छे जुते हुए खेत में बोए हुए बीज भी शीघ्रता से उगते हैं। इसी प्रकार आत्म-ज्ञान अथवा विद्या का बीज भी हृदय क्षेत्र में तभी स्फुरित होगा जब उसकी भूमि बीजारोपण के लिए तैयार है। जब हृदय का संस्कार हो चुका है।

किसी सद्परामर्श को केवल सुन लेने मात्र से संतुष्ट न हो जाओ। तुमने जो श्रवण किया है, उसका मनन करना चाहिए। फिर जो तुम्हारे मानस-पटल पर अंकित हो, उसका अनुभव करना चाहिए और मन, वचन और कर्म द्वारा उसे अभिव्यक्त करना चाहिए। ऐसा करने पर ही हृदय-कोष में सत्य का संरक्षण संभव है। तभी वह हमारी शिराओं में प्रवाहित होगा और तुम्हारे द्वारा अपने संपूर्ण वैभव के साथ प्रकट होगा।

आजकल भाषणों तथा प्रवचनों को सुनना एक बीमारी एक पागल पन की सीमा तक पहुंच चुका है। एक बार जहां लोगों ने कोई प्रवचन सुन लिया, लोग समझते हैं कि हम विज्ञ हो गए। किंतु सत्य की खोज का प्रमुख उद्देश्य स्वयं को मुक्त करना है। इसकी लगन गहरी और अनवरत होनी चाहिए।

तब जाकर सत्य को जानने और अनुभव करने की ललक योग का स्वरूप धारण करती है।

योग में मिलन किस वस्तु का है? धर्म और दिव्यत्व का। मानव में वासना, क्रोध आदि जितने दुर्गुण जन्म लेते हैं और पनपते हैं, उतना ही उसके दिव्यत्व का ह्रास होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि दुर्गुण जितना पनपेंगा, उतना ही आत्मा में उसका विश्वास कम होगा।

सबसे महत्वपूर्ण वस्तु आस्था है। यह आस्था कि मेरी वास्तविकता, मेरी यथार्थता ही आत्मा है-यही सच्ची विद्या है। जब काम, क्रोधादि का ह्रास होता है और वे विलीन हो जाते हैं, तभी आत्मा में और आध्यात्मिक खोज के औचित्य में हमारी आस्था दृढ़ हो जाती है। निरासक्ति ही ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति का मूलाधार है। एक छोटे से भवन का ढांचा खड़ा करने में भी नींव पक्की तथा स्थायी होनी चाहिए अन्यथा वह शीघ्र ही गिरकर एक ढेर बन जाएगी। जब हम एक माला तैयार करते हैं, तो हमें सुई, डोरा और फूलों की आवश्यकता होती है, होती है कि नहीं ? इसी प्रकार जब हमें ज्ञान अर्जित करना है तो हमारे पास भक्ति रूपी धागा, निरासक्ति रूपी सुई तथा एकाग्रता रूपी फूलों की आवश्यकता होती है।

संसार में ऐसा कौन है जो विजय न चाहता हो? सभी धन की लालसा रखते हैं, दरिद्र कोई नहीं बनना चाहता हैं किन्तु विजय अथवा धन किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है। इस पर विचार करना पड़ता है और इसका उपाय खोजना पड़ता है। किंतु इसके हल के लिए हमें अधिक खोज बीन नहीं करनी। महाभारत के अनुसार संजय ने इसका रहस्य धृतराष्ट्र पर प्रकट कर दिया था। उसने कहा था, "जिस ओर योगिराज कृष्ण तथा धनुर्धर अर्जुन हैं, वहां विजय और धन प्राप्ति निश्चित है।" हमें इससे अधिक परामर्श की आवश्यकता क्यों पड़नी चाहिए। विजय प्राप्ति के लिए हमें भौतिक मानसिक और बौद्धिक संघर्ष की आवश्यकता नहीं है। न हमें अधिक उत्तेजित अथवा चिंतित होना चाहिए। धन और समृद्धि के लिए व्याकुल होने की कोई आवश्यकता नहीं है। ईश्वर की शरण में जाओ साहस का धनुष उठाओ। कहने का तात्पर्य यह कि हृदय को पवित्र बनाओ। इतना पर्याप्त है। विजय और लक्ष्मी दोनों तुम्हारे पास होंगी। किंतु तुम जब भी विजय और लक्ष्मी

का अनुसरण करो, यह स्मरण रक्खो कि ये निस्सार पदार्थ हैं; छाया मात्र हैं। यदि सूर्य तुम्हारे पीछे की ओर है तो करोड़ों वर्ष चलने पर भी तुम कभी अपनी छाया को पकड़ नहीं सकते, क्योंकि वह अत्यंत तेज भागती है और सदैव तुम्हारी पहुंच के बाहर है। अतः सूर्य की ओर मुख करो और तब आगे बढ़ो, तब देखो कि क्या होता है। छाया तुम्हारा मार्ग दर्शन करने के बजाय तुम्हारे पीछे पीछे चलती है। वह एक दासी के समान तुम्हारे चरणों पर चलती है। इस छाया को माया का प्रतीक मानो। जब तक तुम माया के पीछे भागते हो, माधव तुमसे दूर रहता है, वह दिखाई भी नहीं पड़ता। तुम्हें उसके दर्शन प्राप्त नहीं हो सकते । तुम जन्म-मरण के चक्र में फंसे रहोगे और इससे कभी मुक्त नहीं हो सकते। हर व्यक्ति को इस दासता के बंधन से मुक्त होने का प्रयास करना चाहिए। अन्यथा यदि हमारे सारे प्रयत्न केवल ऐन्द्रिक-सुख के संग्रह में लगे रहे, तो यह जड़ता और अज्ञान का सबसे बड़ा लक्षण है।

जो लोग इस संसार के बंधन में बुरी तरह फंसे हुए हैं, उन्हें अपनी चतुराई और शक्ति अपने को उससे मुक्त करने में लगानी चाहिए। किसी भी अन्य वस्तु की प्राप्ति के लिए यह अनिवार्य है। शेष अन्य बातें गौण हैं। किंतु लोग आजकल सबसे प्रमुख तत्व को भुलाकर गौण पदार्थों को प्राप्त करने में संलग्न हैं। उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए कि वे आत्मा हैं युक्तियाँ नहीं, जिन्हें एकत्र करके शरीर रूप दे दिया गया है।

एक राजा के महल में राम नामक एक तोता पला था। उसके रहने के लिए एक सोने का पिंजड़ा था। उसे मधुर फल खाने के लिए दिए जाते थे। प्यास बुझाने के लिए उसे अमृत के समान शीतल पेय पदार्थ दिए जाते थे। स्वयं महारानी अपने हाथ से उसे अच्छे से अच्छा खाना खिलाती थीं, उसे बड़े प्रेम से पुचकारा जाता था और उससे मीठी मीठी बातें की जाती थीं। किंतु क्या राम तोता वहां सुखी था ? कदापि नहीं। वह सदैव उदास रहता था। इसका क्या कारण था? न तो उसे सुनहरे पिंजड़े से प्यार था; न मधुर फल और पेय पदार्थ उसे रुचिकर लगते थे और न ही उसे इस बात का कोई अभिमान था कि राज्य की महारानी स्वयं उसकी देख भाल करती और खिलाती पिलाती है। वह इसमें से किसी भी बात की ओर ध्यान

न देता था। उसके हृदय में तो केवल एक ही लालसा थी कि वह कौन सा दिन होगा जब वह किसी शांत वन में किसी हरे वृक्ष की शाखा पर बैठा होगा। यद्यपि उस राज महल के पिंजड़े में उसका शरीर पूरा सुख भोग रहा था, किंतु उसका मन उस सघन वन में अटका हुआ था, जहां से उसे जाल में पकड़ कर ले आया गया था। वह तो जंगल में पैदा हुआ था और एक वृक्ष पर रहा करता था। उस तोते को नगण्य पक्षी के रूप में भी अपने मूल निवास स्थल में स्वतंत्र रहना पिंजड़े के बंधन में रहने से कहीं अच्छा है, चाहे उसे उस स्वर्ण पिंजड़े में रहने से क्यों न रानी का लाड़-प्यार कितना ही मिले। यदि मनुष्य में भी इतनी समझ होती, तो वह भी अपने घर पहुंचने के लिए, अर्थात् परमात्मा के पास पहुंचने के लिए लालायित होता और इस मायामय संसार से, जो उसके लिए परदेश के समान है, मुख मोड़ लेता।

कभी कभी राजनीति तथा अन्य कारणों से कुछ लोग देश के कानून का पालन करने तथा न्याय और व्यवस्था की दृष्टि से गिरफ्तार कर लिए जाते हैं, और देखरेख में रक्खे जाते हैं और अपने पद के योग्य उन्हें विशेष सुविधायें प्रदान की जाती हैं। सामाजिक और राजनैतिक जीवन में उनका जो स्थान है, उसके अनुकूल उनके भोजन आदि का प्रबंध किया जाता है, उन्हें भोग-विलास की वस्तुएं भी प्रदान की जाती हैं किंतु उन बंगलों और उद्यानों के चारों ओर पुलिस वाले पहरा देते हैं। चाहे ऐसे व्यक्ति का जीवन स्तर कितना ही ऊंचा क्यों न हो और उसे कितनी भी सुविधायें प्रदान क्यों न की जायें, अंततोगत्वा वह है तो एक बंदी ही। वह एक आज़ाद व्यक्ति नहीं है। इस प्रकार वह व्यक्ति जो इस संसार में फंसा हुआ है, और यहां के जीवन में उलझ गया है प्रसन्न नहीं रह सकता, न उसे सुख-सुविधाओं की सारी वस्तुएं उपलब्ध हैं। जो इंद्रिय सुख उसे प्राप्त है उसके लिए उसे अभिमान करने की आवश्यकता नहीं और न इस बात पर उसे घमंड करना चाहिए कि उसका सम्पन्न परिवार है, सगे-सम्बंधी हैं, इष्ट मित्र हैं। उसे यह समझना चाहिए और इस सत्य को ध्यान में रखना चाहिए कि वह केवल एक बंदी है।

दस

विश्व की समस्यायें आज नए नए अनुपातों और रूपों में हमारे सामने आ रही हैं। न आजकल वे व्यक्तिगत रह गई हैं और न स्थानीय। वे सारे विश्व को घेरे बैठी हैं और सम्पूर्ण मानव जाति को प्रभावित करती हैं। एक ओर विज्ञान और प्रौद्योगिकी अंतरिक्षी उन्नति के साथ आगे बढ़ रही हैं। प्लास्टिक इलेक्ट्रॉनिक और कम्प्यूटर के प्रौद्योगिकी के कारण हम आश्चर्य चकित रह जाते हैं। दूसरी ओर मानव निरन्तर पड़ने वाले राजनीतिक तथा आर्थिक संकटों से; राष्ट्रीय, प्रदेशीय, धार्मिक, जातीय तथा साम्प्रदायिक प्रतिद्वन्द्विताओं से संकीर्ण स्वामिभक्ति से तथा विद्यालय प्रांगणों में होने वाली हिंसा के विस्फोट से पीड़ित है। इन सब ने सारे विश्व में अनुशासनहीनता तथा लोलुपता को फैलाया है।

यह एक असंतुलित तथा पारस्परिक विरोधी परिस्थिति हैं। इस सबका कारण क्या है ? क्या इसका मूल कारण मानव मन में निरंतर होने वाले उस धार्मिक और नैतिक पतन में हैं, जिससे हम सब आशंकित हैं। मानव जाति के पास ऐसे अनेक साधन और विधियाँ हैं जिनके द्वारा वह प्रज्ञान और शांति दोनों प्राप्त कर सकता है। उसे वेदों और शास्त्रों से, ब्रह्मसूत्र से, बाइबिल से, कुरान से, जेंद-अवेस्ता से, गुरु ग्रंथ साहब से तथा अन्य सहस्रों पवित्र ग्रंथों से अमूल्य मार्ग-दर्शन मिल सकता है। इस भारत भूमि में मठाधीशों तथा धर्मगुरुओं, आध्यात्मिक सिद्धान्तों के प्रतिपादों, विद्वानों और श्रद्धापात्र वयोवृद्धों की कमी नहीं है। वे सब भी बड़ी मात्रा में प्रचार और प्रसार कर रहे हैं। फिर भी मनुष्य का मन नैतिक, आध्यात्मिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में पतित हो रहा है और वह भी बड़ी शीघ्रता से। इस पतन का क्या कारण है?

मनुष्य पहले की अपेक्षा आज अधिक छली और कपटी हो गया है। पिछले युगों की अपेक्षा आज वह अपनी बुद्धि और चातुर्य को क्रूर कर्मों में अधिक लगा रहा है। मनुष्य दूसरों को कष्ट पहुंचाने में इतनी रुचि लेते हैं कि पिछले ५,५०० वर्षों में १५,००० युद्ध लड़े गए हैं। और इस बात का दूर दूर तक कोई चिन्ह नहीं है कि यह भयंकर मनोरंजन कब समाप्त होगा। निकट भविष्य में होने वाला अणु युद्ध सम्पूर्ण मानव जाति के विनाश

पर तुला हुआ है। इस चिंता और भय का मुख्य कारण क्या है ? यह स्पष्ट है कि मनुष्य का पशुत्व आज भी उस पर हावी है। अभी तक उसे वश में नहीं किया जा सका। जब हमें इस कार्य में सफलता प्राप्त होगी, तभी हम, हमारा देश और यह विश्व, शांति और सुख प्राप्त कर सकेगा।

घृणा, ईर्ष्या, लालच, तड़क भड़क और झूठे प्रदर्शन की इच्छा, दूसरों से तुलना और होड़ा-होड़ी इन सब दुर्गुणों को जड़ से उखाड़ना पड़ेगा। दोष केवल जन साधारण को ही भ्रष्ट नहीं कर रहे, बल्कि बड़े-बड़े साधु-संत, सन्यासी, मठाधीश और पंडितजन सभी इसके प्रभाव में आ गए हैं। इन लोगों पर भी ईर्ष्या और लालच ने अपना अधिकार जमा रक्खा है। जब ये आचार्य और उपदेशक, जो अपने को आदर्शों का साक्षात् स्वरूप कहते हैं, इतने निम्न गुणों का प्रदर्शन करते हैं, तो वे संसार को सुधार सकेंगे, इसकी क्या आशा की जा सकती है ? वे केवल इस प्रदुषण को और अधिक घातक बना सकते हैं।

विश्व को आज न तो किसी नयी व्यवस्था की आवश्यकता है, न नवीन शिक्षा की, न नई प्रणाली की, न नए समाज की और न नए धर्म की। इसका उपचार केवल एक मन है-एक पवित्र और निर्मल हृदय । आज युवकों के हृदय में हर स्थान पर पवित्रता का उदय होना चाहिए। हमारे बालक-बालिकाओं और छोटे बच्चों में भी मन की स्वच्छता और पवित्रता का भाव उदित होना चाहिए। जो सज्जन और ईश्वरोन्मुख हैं, यह उनका कार्य है कि वे इसे एक साधना के रूप में स्वीकार करें।

केवल ब्रह्म विद्या के द्वारा ही इस कार्य में सफलता हो सकती है। किंतु खेद का विषय है कि मनुष्य को आज केवल संग्रह और एकत्रीकरण में विश्वास है। वह इसे त्याग नहीं सकता। उसे सत्य में आस्था ही नहीं हैं। वह असत्य से आकर्षित होता है, और सत्य को अपने मार्ग का एक रोड़ा समझता है। इसलिए वह इस तथ्य को पहचानने में असमर्थ है कि एक गौरवमय जीवन की सुखद परिणति मृत्यु ही है। वह कष्ट और चिंता में मरता है। लोग तोते के समान लगातार सत्य, धार्मिकता, प्रेम आदि शब्दों को रटते रहते हैं, किंतु आश्चर्य है कि जिस एक वस्तु को अपनाना नहीं चाहते, वह है सत्य।

मानव सब कुछ जानने के लिए आतुर है, किंतु सत्य को जानने और समझने के लिए वह आतुर नहीं। वह उस दिशा में अपना ध्यान ही नहीं देना चाहता। और यदि वह कभी देता भी है, तो केवल अपनी आशंकाओं और पूर्वाग्रहों के समर्थन के लिए। अत: व्यक्ति का प्रथम कर्त्तव्य है अपनी दुर्बलता का तिरस्कार और दूसरे को कष्ट पहुंचाने की भावना का त्याग।

वह जिसका कोई न तो प्रारम्भ है और न अंत बल्कि केवल बीच में एकाएक प्रकट हो जाता है, कभी यथार्थ अथवा सत्य हो ही नहीं सकता। वह मिथ्या है, सत्य नहीं। उद्‌भव के पूर्व यह ब्रह्माण्ड कहीं न था और प्रलय के उपरान्त इसका अस्तित्व कहीं न रहेगा। इन दोनों स्थितियों-उद्‌भव और प्रलय के मध्य जो भी प्रत्यक्ष सत्य दिखाई पड़ता हे, वह अस्थायी है, सीमित है। वह अपरिवर्तनीय सत्य नहीं है।

मानव को इस तथ्य का ध्यान रखकर इस सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ का मूल्य तथा उसकी उपयोगिता की खोज करनी चाहिए। उदाहरणार्थ, जन्म से पूर्व यह शरीर न था और मृत्यु के बाद भी यह न रहेगा। मिट्टी से बने बर्तन के समान वह 'बर्तन' का नाम और रूप धारण कर केवल थोड़े समय तक स्थित रहता है। तत्पश्चात् वह फिर अपनी मूल प्रकृति मिट्टी में बदल जाता है। बर्तन है क्या ? मिट्टी न। हां, उसे एक आकार देकर उसका नाम बर्तन रख दिया है। सृष्टि की कोई भी वस्तु हो, काल के अनिवार्य प्रभाव से वह बच नहीं सकती। उसका भी विनाश होता है, मृत्यु होती है। भूमि और वृक्ष, भवन और शरीर, राजा और राज्य-प्रत्येक को उसी विलय और विनाश का सामना करना पड़ता है। मनुष्य स्वयं में स्थित अमरत्व को पहचानने के साधनों की उपेक्षा करता है। वह प्रकृति के कार्यकलाओं से प्रभावित इस विश्व के ज्ञान को प्राप्त कर फूला नहीं समाता। वे लोग जो इस प्रलोभन में फंस जाते हैं, उन लोगों की तरह हैं जो नंदन कानन को छोड़कर विषैली वनस्पतियों के जंगल में भागते हैं। वे अपने मूल बिम्ब-आत्मा से विमुख हो जाते हैं। वे दृश्य-सत्ता से उसके प्रतिबिम्ब से चकाचौंध में पड़ जाते हैं। अपनी इस प्रवृत्ति से वे अपने को अज्ञानी ही घोषित करते हैं, सत्य के जिज्ञासु नहीं।

मनुष्य को यह जानना चाहिए कि तीनों विश्वों में, तीनों कालों में और

दैनिक जीवन की तीनों अवस्थाओं (जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति) में एक कण भी सच्चा आनंद मिलने वाला नहीं। केवल मूर्ख व्यक्ति ही सांसारिक क्रियाओं द्वारा प्राप्त सीमित मिथ्या सुख को सच्चा मानकर अपने को संतोष दिलाते हैं। किंतु बुद्धिमान व्यक्ति इसकी यथार्थता को समझते हैं। वे लोग जो रस भरे मीठे अंगूरों के गुच्छों को अनदेखा कर देते हैं और कंटीली झाडियों की ओर दौड़ते हैं, ऊंट के समान है। उनकी गणना किसी अन्य जाति में नहीं की जा सकती।

पर्वतों के शिखर दूर से मन मोहक लगते हैं। जब आप समीप पहुंचते हैं तो भय उत्पन्न करने वाले सघन जंगलो का सामना करना पड़ता है। यही दशा इस विश्व की है। दूर से यह विश्व भी बड़ा आकर्षक दिखलाई पड़ता है। किंतु जब आप इसके अर्थ की गहराई में जाते हैं और मूल्य आंकते हैं, तो इसकी जटिलता का ज्ञान होता है। जब हम विवेक द्वारा इसे समझने का प्रयास करते है, तो हमारे सामने यह सत्य स्पष्ट होता है कि सांसारिक अथवा पारिवारिक जंगल में भी हमें सच्चा आनंद प्राप्त नहीं हो सकता। केवल आत्मा द्वारा ही वह सुख प्राप्त हो सकता है। क्या मृगतृष्णा रूपी झील, भले ही वह हमें कितनी ही आकर्षक क्यों न लगे, हमारी प्यास बुझा सकती है ? यदि कोई व्यक्ति अपने को इस भुलावे में रखता है कि वह प्यास बुझा सकती है, और उस जलाशय के पीछे जिस का अस्तित्व ही नहीं है, भागता है, तो उसे कुछ मिलने वाला नहीं, वरन् उसकी प्यास उत्तरोत्तर और बढ़ती जाती है। उसे अन्य कोई लाभ मिलने वाला नहीं।

इसलिए मनुष्य को आत्मविद्या सीखनी चाहिए। इस पद्धति (प्रक्रिया) द्वारा ही वह स्वयं में निहित आत्मतत्व को पहचान सकेगा। उसे सीख कर और उसे जीवन में उतार कर, वह स्वयं अपनी प्यास बुझा सकता है, और मानव मात्र की प्यास बुझाने में सहायता कर सकता है।

ग्यारह

अपने जीवन काल में मनुष्य को अनेक हेतुओं की प्राप्ति करनी पड़ती है। इनमें सर्वोच्च और सबसे अधिक मूल्यवान लक्ष्य परमात्मा की कृपा, उसका प्रेम प्राप्त करना है। जीवन में अक्षय और अडिग शांति प्राप्त करने के लिए उसे प्रज्ञान की आवश्यकता है, और वह केवल परमात्मा-प्रेम से ही प्राप्त होता है। अत: प्रत्येक व्यक्ति को परमात्मा स्वरूप की यथार्थ प्रकृति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। निस्सन्देह अपनी साधना के प्रारम्भिक दिनों में मनुष्य को उस पूर्णब्रह्म सत्ता के अप्रकट रहस्य का ग्रहण सम्भव नहीं। उसे सर्वप्रथम उस सत्ता को कोई न कोई नाम तथा रूप देना पड़ता है, जिसकी सहायता से उसे उस परमसत्ता का बोध हो सके। फिर शनै: शनै: उसे अपने हृदय में शक्तिपात के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहिए। अपने इस प्रयत्न की सफलता में रत व्यक्ति अपने लक्ष्य की प्राप्ति में संलग्न एक साधक मात्र नहीं है। उसे अपने अन्दर सेवा भाव भी उत्पन्न करना है और अपने को सत्यकार्यों में लगाये रहना है, ताकि वह लोगों की कृतज्ञता प्राप्त कर सके। इस ढंग से ही वह अपने चित्त के विभिन्न स्तरों की मलिनता को नष्ट करने में सफल हो सकता है, और आध्यात्मिक विजय का योग्य पात्र बन सकता है।

संन्यास का अर्थ केवल जीवन के चतुर्थ आश्रम की स्वीकृति मात्र नहीं है। और न इसका अर्थ संसार से सम्बन्ध तोड़ कर वन में चला जाना है, और वहां संन्यासश्रम के नियमों और कर्तव्यों का पालन करना है। सन्यासी का धर्म है जनसाधारण के बीच घूमना-फिरना, उनके दु:ख सुख को समझना, और उन्हें उपदेश और प्रेरणा देना, क्योंकि इसकी उन्हें विशेष आवश्यकता है। सन्यासियों को अपने इस कर्तव्य का पालन करना चाहिए।

सन्यासी की तुलना एक विशेष प्रकार की मछली से की जा सकती है। मछली झील की गहराई में चारों ओर घूमती है, वह किसी एक स्थान पर स्थिर नहीं रहती। साथ ही जल में तैरते हुए वह कीटाणुओं को तथा रोग पैदा करने वाले अंडों को खाकर पानी को कीटाणु-रहित तथा स्वच्छ बनाती है। इसी प्रकार सन्यासी को भी एक स्थान पर स्थिर न रहकर देश

के चारों कोनों की यात्रा करनी चाहिए। उसका कर्त्तव्य है कि वह अपने प्रवचनों और दृष्टान्तों द्वारा समाज के दोषों को दूर कर उसे परिष्कृत करे। अपने उपदेशों द्वारा छल-कपट रहित समाज की रचना उसका परम कर्त्तव्य है।

वृक्ष अपनी शाखायें दूर दूर तक फैला सकता है। किन्तु इन शाखाओं में फलदायिनी कलियां तभी लग सकती हैं जब जल द्वारा उसकी जड़ों का समुचित सिंचन किया गया हो, यदि इसके स्थान पर कोई शाखाओं, फूलों और फलों पर जल चढावें और उन्हें सींचे तो क्या वृक्ष बढ़ सकता है और उसकी शाखायें फैल सकती हैं ? समाज की समृद्धि और शांति की जड़ें भी अनन्य भक्ति और समर्पण भाव में स्थित हैं। अतः हमारी शिक्षा प्रणाली को जन साधारण में इन गुणों के विकास और पोषण पर अवश्य ध्यान देना चाहिए। जो लोग समाज में पद और सत्ता को संभालते हैं, हम उन्हें अधिकारी कहते हैं। किंतु इस शब्द का अर्थ 'अधिक-अरि' अर्थात् महान-शत्रु भी हो सकता है। सच्चे अधिकारी का कर्त्तव्य है कि वह ऐसे मार्ग से बचे और अपने पद का उपयोग अपने संरक्षण में रहने वाले जन साधारण की सेवा में करे।

प्राचीन काल में जब कभी किसी क्षेत्र के निवासी भय अथवा चिंता से ग्रस्त होते थे अथवा जब उनके हर्ष और संतोष के स्रोत सूख जाते थे, तो लोग इस बात का पता लगाते थे कि वहाँ के मंदिरो में विराजमान भगवान की पूजा तथा उपासना में कौन सी भयंकर भूल हुई है ? क्योंकि किसी ऐसी त्रुटि और अवहेलना के फलस्वरूप ही ऐसी विपत्ति पड़ सकती है। वे ऐसी त्रुटियों का पता लगाते थे, और उन्हें सुधारने के लिए प्रायश्चित करते थे ताकि उन्हें आंतरिक शांति प्राप्त हो सके। उन्हें यह विश्वास था कि ऐसा करने से संकट टाला जा सकता है। किन्तु आज ऐसे सभी कर्मो को अधंविश्वास कहकर उनकी हंसी उड़ाई जाती है, और उन्हें त्याग दिया जाता है। किंतु यह अंधविश्वास नहीं है। आधुनिक वैज्ञानिकों की बोध शक्ति इतनी दयनीय स्थिति में है कि वे महत्वपूर्ण प्रश्नों को पहचानने में नितान्त असमर्थ हैं। आधुनिक शिक्षा प्रणाली से जो संभ्रान्तियाँ उत्पन्न हुई हैं, यह उनका पहला चरण है।

प्राचीन काल में लोग परम सत्य की व्यक्तिगत अनुभूति के बाद ही उसे हृदयङ्गम करते थे। किन्तु आजकल के लोग उनके शोधों और

आविष्कारों को अस्वीकार कर देते हैं। यही कारण है कि आज के तथाकथित सभ्य देशों में बर्बरता का उदय हो रहा है। बहुत से लोगों ने इस तथ्य को अभी तक नहीं पहचाना। प्रत्येक प्राणी सुख की कामना करता है। कोई भी दुःख अथवा कष्ट की इच्छा नहीं करता। कुछ लोग भोग विलास की सामग्री एकत्र करने में लगे रहते हैं, कुछ लोग नाना प्रकार के वाहन एकत्र करते हैं। पर हर व्यक्ति उन वस्तुओं को प्राप्त करने में प्रयत्नशील रहता है, जिनके द्वारा वह समझते हैं उसे सुख प्राप्त होगा। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो आनन्द और सुख के सच्चे स्रोत को जानते हैं। सुख तीन प्रकार का होता है। एक वह सुख है जो प्रारम्भ में तो विष के समान कटु है, किन्तु आगे चलकर अमृत में बदल जाता है। यह सुख आत्म तत्व की अनुभूति द्वारा प्राप्त होता है। यह सात्विक आनन्द है। कहने का तात्पर्य यह है कि सम, दम आदि प्रारम्भिक साधना के जो अंग हैं, उनका पालन आरम्भ में कठिन और अरुचिकर प्रतीत होता है। इसमें संघर्ष करना पड़ता है, और प्रयत्न भी। अतः प्रारम्भिक प्रतिक्रिया कटु होती है। योग वशिष्ठ में वशिष्ठ मुनि कहते हैं, "हे राम! मनुष्य अत्यत सरलता से असीम महासागर का जल पी सकता है, वह अत्यंत सरलता से पृथ्वी के धरातल से सुमेरु पर्वत को उठा सकता है, वह भीषण ज्वाला की लपटों को सहज ही निगल सकता है किंतु अपने मन को वश में करना उसके वश में नहीं। यह कार्य इन सबसे कठिन है"। अतः यदि कोई व्यक्ति अपने मन को वश में करने में सफल हो जाता है, तो उसे आत्म का बोध हो जाता है। किंतु यह सफलता उसे तभी प्राप्त होती है जब वह अनेक प्रकार के कष्टों और अभावों को सहन करता है। पर इन परीक्षाओं को पार करने पर उसे जिस परमानन्द की प्राप्ति होती है वह अवर्णनीय है। अपनी साधना के फल स्वरूप व्यक्ति निर्विकल्प समाधि के पूर्ण समत्व भाव में प्रतिष्ठित हो जाता है। निर्विकल्प का अर्थ जब वह कल्पना रहित हो, विचार रहित हो। यह स्थिति उचित साधना द्वारा ही प्राप्त की जा सकती है। यह दो प्रकार की होती है, प्रथम में सम्पूर्ण अनुभव की प्रकृति ही अद्वितीय होती है। दूसरे में द्वैत भाव का अन्त होने पर अद्वैत की स्थिति प्राप्त होती हैं। प्रथम प्रकार की साधना मनुष्य को ज्ञाता, ज्ञात और ज्ञान की त्रयी से परे ले जाती है और वह केवल ब्रह्म

से अवगत होता है। (यही अद्वैत भावना है) दूसरी अवस्था तब प्राप्त होती है जब ईश्वर और मनुष्य के सभी लक्षण उस एक तत्व में लय हो जाते हैं, जिसमें यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड और उसके पदार्थ निंहित हैं। यही अद्वैत स्थायी अथवा अद्वैत अवस्था है।

आनन्द एक अन्य प्रकार का भी होता है। हमारी इंद्रियों पर बाह्य पदार्थों के प्रभाव स्वरूप जो सुख हमें प्राप्त होता है उसे हम धोखे से अमृत समझ बैठते हैं। किन्तु समय आने पर यह सुख कड़वे विष में बदल जाता है। यह राजसिक सुख है। जब मनुष्य इस ऐन्द्रिक राजसिक सुख को अपनाता है तो उसे धर्म, अर्थ काम और मोक्ष इन सब में रुचि कम हो जाती। ये सब क्षीण होने लगते हैं।

तीसरे प्रकार का सुख तामसिक सुख है। वह आदि से अंत तक आपकी बुद्धि को मन्द कर देता है। ऐसे व्यक्ति को निन्द्रा आलस्य और अपराध करने से संतोष प्राप्त होता है और ऐसी प्रवृत्तियों में ही सुख प्राप्त होता है। तामसिक व्यक्ति आत्मा का बोध कराने वाले मार्ग पर चलना ही नहीं चाहता। वह जीवन भर इस ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता।

सच्ची शिक्षा वास्तव में वही है जो मन और बुद्धि को सात्विक सुख प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है। निस्सन्देह वह अथक प्रयत्न दारा ही प्राप्त हो सकता है। धर्म ग्रंथ कहते हैं, 'न सुखात् लभ्यते सुखम्' सुख से सुख प्राप्त नहीं हो सकता। कष्ट और दु:ख सहन करने के बाद ही व्यक्ति सुख का अधिकारी होता है। इस सत्य की स्थापना विद्या द्वारा ही संभव है। जब व्यक्ति यह जान लेता है कि सात्विक आनन्द क्या है, तो उसे विद्या भी सरल और रुचिकर लगने लगती है।

मानव रूप में जन्म लेकर हमें इस अमृत विद्या को प्राप्त करने का हर सम्भव प्रयत्न करना चाहिए, जिसमें कि हम आत्मा के दर्शन कर आत्मानन्द का अनुभव कर सकें।

बारह

'विद धातु में 'या' प्रतयय जोड़ने से 'विद्या' शब्द की रचना हुई है। 'या' का अर्थ है 'जो' और 'विद' का अर्थ है 'प्रकाश' अर्थात् 'जो हमें प्रकाश दे वह विद्या है।' यह विद्या शब्द का मूलार्थ है। अतः स्पष्ट है कि केवल ब्रह्म विद्या ही विद्या कहलाने की अधिकारिणी है। प्राचीन काल के ऋषि-मुनियों ने ज्ञान को प्रकाश तथा अज्ञान को अंधकार माना है। जिस प्रकार प्रकाश और अंधकार एक समय और एक ही स्थान पर एक साथ नहीं रह सकते, इसी प्रकार विद्या और अविद्या भी एक साथ नहीं रह सकतीं। अतः हर किसी को, जो प्रगति के पथ पर चलता है, अपनी चेतना को पूर्ण निर्मल बनाकर अपनी आत्मा को ब्रह्मविद्या से प्रकाशित करना चाहिए।

गीता में विभूति योग नामक अध्याय में भगवान ने कहा है, "अध्यात्म विद्या विद्यानाम" अर्थात् "सभी विद्याओं में मैं अध्यात्म-विद्या(ब्रह्म विद्या) हूँ।" अन्य विद्यायें या ज्ञान की प्रणालियाँ सरितायें हैं, किंतु अध्यात्म विद्या सागर हैं। जिस प्रकार सभी नदियाँ समुद्र में मिलने में ही अपनी सार्थकता समझती हैं, इसी प्रकार अध्यात्म विद्या रूपी महासागर में मिलकर ही अन्य विद्यायें अपने अन्तिम लक्ष्य को प्राप्त करती हैं। इतना ही नहीं! जब सरितायें महासागर में मिलती हैं और उसमें विलीन हो जाती हैं, तो उनके पृथक नाम और रूप भी मिट जाते हैं। तब वे महासागर का ही नाम रूप धारण कर लेती हैं। ठीक इसी प्रकार विभिन्न विद्यायें जिनका सम्बन्ध विश्व के भौतिक स्वरूप से है, अपने नामों और रूपों को त्याग कर ब्रह्म विद्या के उस महासागर में विलीन हो जाती हैं।

'विद्या तपोभ्याम पूतात्मा' अर्थात् विद्या और तप द्वारा ही व्यक्ति पवित्रात्मा में परिवर्तित होता है। विद्या के दो पक्ष होते हैं, वाह्य विद्या और ब्रह्म विद्या। वाह्य विद्या मनुष्य को जीविकोपार्जन का साधन प्रदान करती है। मनुष्य अनेक विषयों का अध्ययन कर सकता है, अनेक महत्वपूर्ण डिग्रियां प्राप्त कर सकता है, और अपना जीवन बिना किसी चिन्ता तथा भय के व्यतीत कर सकता है। इस प्रकार की विद्या चाहे व्यक्ति चपरासी हो अथवा प्रधान मंत्री, उसे सहायता पहुँचाती है। दूसरी ओर ब्रह्म विद्या मानव मात्र को वह

शक्ति प्रदान करती है, जिसकी सहायता से वह अपने प्रति सभी दायित्वों का भलि भांति निर्वाह कर सकता है। वह एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करती है जो उसे इस लोक और परलोक दोनों में आनन्द प्रदान करती है। अत: इस पृथ्वी पर उपलब्ध सभी विद्याओं की अपेक्षा ब्रह्म विद्या कहीं श्रेष्ठ है। ब्रह्म विद्या में दैवी शक्ति है जो व्यक्ति को इस संसार के बंधनों से मुक्त कर सकती है। विद्या ज्ञान प्राप्त करने की विधि है। जो ज्ञेय है वह तप है। अत: प्रथम तो अप्रत्यक्ष है, साधन है और दूसरा लक्ष्य है, साध्य है।

गुरु का अर्थ है वह व्यक्ति जो महान हो, भारी हो। कहने का तात्पर्य यह है कि गुरु वही है जिसका विद्या और तप दोनों पर अधिकार हो। जब कोई व्यक्ति जिन वस्त्रों को धारण करता है, उनसे धूल और मैल हटाना चाहता है, तो उसे साबुन तथा स्वच्छ जल दोनों की आवश्यकता पड़ती है। ठीक इसी प्रकार जब व्यक्ति अपने मन पर जमी हुई धूल और मलिनता को दूर करना चाहता है, तो उसके लिए विद्या और तप दोनों की आवश्यकता पड़ती है। जब हम इन दोनों का प्रयोग करते हैं तभी चेतना के विभिन्न स्तरों को हम बिलकुल स्वच्छ रख सकते हैं। दो पहियों के बिना कोई भी गाड़ी नहीं चल सकती, न एक पंख से कोई पक्षी उड़ सकता है। इसी प्रकार कोई भी व्यक्ति बिना विद्या और तप के अपने को स्वच्छ और पवित्र नहीं बना सकता।

तप का यह अर्थ नहीं कि सिर नीचे और पैर ऊपर करके तुम चमगादड़ की तरह लटके रहो। न इसका यह अर्थ है कि तुम अपनी सम्पत्ति और धन का त्याग करो, अथवा पत्नी और बच्चों को छोड़कर और नाक बंद कर तथा सांस रोक कर अपने शरीर को सुखा डालो। नहीं, तप का अर्थ है मन, वचन और कर्म तीनों ही पवित्र होने, चाहिए। यही तप हैं साथ-साथ तीनों में जो समन्वय स्थापित करना है, वह एक अनिवार्य कत्तर्व्य समझ कर नहीं करना चाहिए। अपने हृदय की प्रेरणा को संतुष्ट करने के लिए तथा अपने आत्म संतोष के लिए निरन्तर प्रयत्न करना चाहिए। यह संघर्ष ही तप का सार है।

गीता हमारे समक्ष आदर्श गुरु और आदर्श शिष्य उपस्थित करती है। शिष्य अधिकार मूर्ति है और गुरु अवतार मूर्ति है। अर्जुन ने ज्ञान प्राप्त करने

का अधिकार प्राप्त कर लिया है, वह सच्चे अर्थों में जिज्ञासू है, कृष्ण ने मनुष्य को ज्ञान का उपदेश देने के लिए मानव रूप में अवतार लिया है। शिष्य नरोत्तम है, और गुरु पुरुषोत्तम है। शिष्य धनुष का प्रयोग करता है, वह धनुर्धर है। गुरु सभी कौशलों के रहस्य-योग का प्रयोग कारता है। वह योगेश्वर है। जब ये दोनों मिलते हैं तो विद्या अपने आप ब्रह्म विद्या में बदल जाती हैं।

कृष्ण के उपदेशों को हृदयग्डम करने के बाद शिष्य अर्जुन बोला, "करिष्ये वचनां तव" अर्थात् "आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूंगा।" इस बार उसने अपना गांडीव धनुष नहीं फेंका, बल्कि उस अहंकार को जो उसे भटका रहा था, निकाल फेंका। गुरु उस नाटक का सूत्रधार था। शिष्य उस नाटक का पात्र धार। शिष्य को इस बात का गर्व न होना चाहिए कि उसे कोई दायित्व सौंपा गया है क्योंकि जब तक तुम्हें मिथ्याभिमान है तुम्हें गुरु नहीं मिल सकता। अत: जब गुरु तुम्हें स्वीकार कर लेता है, तुम्हारा अभिमान विलीन हो जाता है।

यदि कोई व्यक्ति अपना सब कुछ त्याग देता है और फिर अपने त्याग की सब जगह स्वयं ही प्रशंसा करता है, तो उसका महत्व नष्ट हो जाता है। सच तो यह है कि उसमें अपने को महान समझने अथवा घमंड करने की कोई बात ही नहीं है। सच्चा त्याग तो स्वयं को समर्पित करने में है। इसके पश्चात् ही गुरु उसे अपनी अनुमति देगा, क्योंकि अब स्वेच्छा ही प्रभु इच्छा है, जैसा कृष्ण ने किया। कृष्ण ने अर्जुन से कहा, "प्रिय अर्जुन ! 'यथेच्छसि तथा कुरूं"-जैसा चाहो, वैसा करो। विवेकपूर्वक विचार करो और फिर जो उचित लगे, करो।" कृष्ण का तात्पर्य था कि उन्होंने अर्जुन को हर प्रकार का उचित परामर्श गीता के रूप में दे दिया था तथा अर्जुन द्वारा व्यक्त अहंकार को भी स्वीकार कर लिया था। इसलिए अर्जुन अब अपनी इच्छा से कार्य करने के लिए स्वतंत्र था, क्योंकि अब उसकी इच्छा कृष्ण की इच्छा थी। मनुष्य जब साधन के उस बिन्दु तक पहुंच जाता है, तो वह कार्य करने के लिए स्वतंत्र है। यदि किसी शिष्य ने अपना सब कुछ तथा स्वयं अपने को गुरु के चरणों में समर्पित कर दिया है, तो गुरु को क्रूरता पूर्वक शिष्य को अनावश्यक आज्ञायें न देनी चाहिए। लालची गुरु और आलसी

चेला दोनों नरक में जाते हैं। गुरु को वित्तापहारी अर्थात् धन का अपहरण करने वाला न बनकर हृदयापहारी अर्थात् हृदयों को जीतने वाला (चुराने वाला) बनना चाहिए। गुरु को तो अलार्म टाइम पीस (घड़ी) की तरह होना चाहिए। जो लोग अज्ञान की निद्रा में सो रहे हैं, उन्हें जगाने का काम गुरु का है और फिर आत्मज्ञानोंपदेश द्वारा उन्हें पुरस्कृत करने का है।

एक बार एक यात्री ग्रामांचल में एक गांव से दूसरे गांव यात्रा कर रहा था। उसके मार्ग में एक नदी पड़ी जिसमें बाढ़ आई हुई थी। बाढ़ का पानी प्रति क्षण बढ़ रहा था और गांव की ओर तेजी से बह रहा था। वह निस्सहाय था और उसकी समझ में न आता था कि वह दूसरे किनारे तक कैसे पहुंचे उसने चारों ओर अपनी दृष्टि फेंकी। उसने देखा कि जहां वह खड़ा है। उससे कुछ ही दूरी पर एक वृक्ष के नीचे दो व्यक्ति आराम से बैठे हैं। वह उनके निकट गया। उसने देखा कि उनमें एक लंगड़ा है और दूसरा अंधा। अत: उसने यह सोचा कि भला इन्हें यह क्या मालूम होगा कि नदी कहाँ अधिक गहरी है और कहाँ कम गहरी और पार करने योग्य है। अत: उनसे बिना कुछ प्रश्न किये हुए ही वह वापस चला गया। वह यह जानता था कि उनके दिये हुए उत्तरों को कार्यान्वित नहीं किया जा सकता।

इस कहानी में वर्णित मनुष्य तो उस गुरु के समान है जिसने ज्ञान तथा अनुभव के अक्षय एवं भंडार उन शास्त्रों पर अधिकार प्राप्त नहीं किया है जिन्हें प्राचीन काल में ऋषि मुनियों ने अपनाया था। कहानी में लंगड़ा व्यक्ति वह है जिसने अपने ज्ञान को अभ्यास में परिणित नहीं किया और इस प्रकार व्यक्तिगत अनुभव से वञ्चित है। वस्तुत: मनुष्य को पूर्ण बनाने के लिए शास्त्रीय ज्ञान तथा उसके प्रयोग का व्यावहारिक अनुभव दोनों की आवश्यकता है। केवल ऐसा गुरु ही अपनी शिक्षा द्वारा तथा अपने आचरण दृष्टांत द्वारा शिष्य को बचा सकता है। मुण्डकोपनिषद् में इसी की विशद व्याख्या की गई है।

एक अच्छा शिष्य मिलने की अपेक्षा एक अच्छा गुरु मिलना अधिक कठिन है। केवल जब एक सच्चा गुरु उन्हें स्वीकार करे तभी शिष्यगण आदर्श रूप बन सकते हैं। जब निर्मल हृदय, निस्वार्थ और अहंकार-रहित शिष्य जिज्ञासु भाव से गुरुओं के समीप जाते है तो गुरु भी आंतरिक आह्लाद

से गद्‌गद् हो जाते हैं। सम्राट् परीक्षित ने सब कुछ त्याग दिया और परमात्मा-दर्शन का बीड़ा उठाया। ठीक उसी समय उन्हें अपने लक्ष्य की ओर ले जाने के लिए महर्षि शुकदेव प्रकट हुए। ठीक इसी प्रकार उत्तम शिष्यों को उत्तम गुरु मिल जाते हैं, तो वे न केवल दिव्यानंद प्राप्त करने में सफल होते हैं, वरन् सम्पूर्ण विश्व पर शांति, समृद्धि और आनंद की वर्षा करने में भी सफल होते हैं।

तेरह

विद्यार्थियो ! प्रत्येक मनुष्य को बिना किसी भ्रम तथा प्रयत्न द्वारा उस अमर पुरुष को पहचानना चाहिए। तुमने उस अज्ञान के अपने स्वयं के अखण्डानन्द के उत्तराधिकारी के रूप में जन्म लिया है। तुम उस परम पिता की अत्यंत प्रिय संतान हो। तुम वायु के समान निर्मल और पवित्र हो। स्वयं को पापी कह कर अपनी भर्त्सना मत करो। तुम भेड़ के बच्चे न होकर सिंह-शावक हो। तुम पदार्थ के मिश्रण से रचे हुए भौतिक शरीर नहीं हो, वरन् अमरत्व की लहरें हो। ये भौतिक पदार्थ तुम्हारे इंगित पर तुम्हारी सेवा के लिए प्रस्तुत हैं, तुम्हें उनके आधीन होने अथवा उनकी सेवा करने की आवश्यकता नहीं।

ऐसा मत समझो कि वेदों ने अत्यंत कठोर विधानों, नियमों और अधिनिमयों का एक पोथा तैयार कर तुम्हारे लिए छोड़ दिया है। सभी नियम स्वयं परमात्मा ने व्यवस्थापक के रूप में बनाये हैं। इस अखिल ब्रह्माण्ड के सारे तत्व, सर्वत्र स्थित प्रत्येक कण, प्रत्येक क्षण उसकी आज्ञा से ही कार्य कर रहा है। वेद हमें इस बात से अवगत कराते हैं। ऐसे परमेश्वर की सेवा से बढ़कर अन्य कोई पूजा नहीं हो सकती। इस संसार की अथवा इससे परे किसी अन्य विश्व की किसी भी वस्तु से जितना अधिकतम प्रेम मनुष्य करता है, उससे भी अधिक और गहरा प्रेम उसे प्रभु के चरणों में अर्पित करना चाहिए। उसे मात्र एक, अद्वितीय समझ कर उससे प्रेम करना चाहिए। ऐसे श्रद्धायुक्त प्रेम से उसका स्मरण करना चाहिए। वास्तविक शिक्षा ऐसी ही फलदायिनी होनी चाहिए।

कमल-पत्र जल में उत्पन्न होता है, वह जल पर तैरता है, किंतु वह कभी उससे भीगता नहीं है मनुष्य को भी इस विश्व में इसी रूप में रहना चाहिए-वह संसार में रहे, संसार के लिए रहे, पर संसार का होकर न रहे। उच्च शिक्षा की यह विशेषता होनी चाहिए, वह तुम्हें इस भूमिका के लिए तैयार करे।

कहने का तात्पर्य यह है कि हृदय को परमात्मा के दिव्य स्वरूप में मग्न कर और अपने हाथों को सत्कर्म में लगाकर मनुष्य को पृथ्वी पर जीवन यापन करना चाहिए। किंतु प्रेम को व्यापार की वस्तु न बना देना चाहिए। प्रेम की परिपूर्णता प्रेम में ही है। हिंदू धर्म संघर्ष अथवा विवादों के चक्कर में पड़ कर किसी एक सिद्धांत या मत का प्रतिपादन नहीं करता । वह सभी मतों और सिद्धांतों का मूल्याकन अनुभव की कसौटी पर करता है।

वृक्ष का मूल्याकन उसके फलों से किया जाता है। आचारसंहिता, आध्यात्मिक व्यवहार और प्रेम की अभिव्यक्ति-इन सभी में ऐसे असाधारण गुण विद्यमान हैं, जो मनुष्य की प्रगति में सहायता पहुंचाते हैं।

भारत के दार्शनिक विद्वानों और गुरुओं की दृष्टि में मनुष्य असत्य से सत्य की ओर नहीं बढ़ता, परन्तु अर्ध सत्य से पूर्ण सत्य की ओर बढ़ता है। प्रत्येक आत्मा एक गरुड़ पक्षी के समान है। वह उत्तरोत्तर ऊंची उड़ती जाती है, और अपनी आधिभौतिक शक्ति के सहारे उस परब्रह्म तक पहुंच जाती है, ठीक उसी प्रकार जैसे कि गरुड़ पक्षी ऊंचा ही उड़ता जाता है और अपने असाधारण सामर्थ्य के बल पर आभा और दीप्ति के पुंज सूर्य-मण्डल के केंद्र में पहुंच जाता है।

सृष्टि का आधार भूत सत्य है, अनेकता में एकता। भारतीयों ने उसे भली प्रकार समझ लिया था। दूसरे सब धर्मों ने कुछ निश्चित सिद्धांतों को अपनाया है और उन पर अपने मतों का निर्माण किया है। इस प्रकार वे पंथों या मतों की स्थापना करके संतुष्ट हो जाते हैं। इनके व्यवस्थापकों ने जिन भावों और संवेदों को वैध और मूल्यवान समझा उनके अनुसार पूजा. उपासना और प्रार्थना की पद्धति रच डाली। प्रत्येक धर्म मानवता की जो सेवा करता है वह है इस पार्थिव संसार से परे मनुष्य की चेतना का विस्तार और उसमें स्थित दिव्यत्व की चिनगारी को प्रकाशित करना। किंतु भारतीय

उपासना पद्धति इस ज्ञान पर आधारित है कि वह एक (अनन्य) जब पृथक्-पृथक् स्थितियों और दशाओं से घिर जाता है, तो अपनी अद्वितीय सत्ता को पृथक् पृथक् नाम, रूप, और गुणों के माध्यम से प्रकट करता है। इसलिए भारतीयों में विश्व के सभी निवासियों की अपेक्षा इस बात की बौद्धिक सहन शीलता अधिक मात्रा में रहती है कि वह सबके समक्ष यह घोषणा कर सके कि परमात्मा का अस्तित्व है और उसे किसी भी धर्म का अनुसरण करके प्राप्त किया जा सकता है। यह उनका अद्वितीय परम सौभाग्य है।

जीवन यापन के प्रमुख सिद्धान्तों में से एक है अपने पूर्वजों के सन्बन्ध में अपने को कभी लज्जित अनुभव न करना। ज्यों-ज्यों व्यक्ति अपने पूर्व इतिहास को पढ़ता है ज्यों ज्यों वह उन युगों की मानव स्थितियों पर दृष्टिपात करता है, त्यों त्यों तुम्हें अपने अतीत पर गर्व होता जाएगा। अपने पूर्वजों की श्रेष्ठ उपलब्धियों पर विश्वास की जो धारा है उसे प्रवाहित होने दो और अपनी धमनियों के रुधिर को शक्ति प्रदान करने दो। यह देखो कि उस विश्वास और आस्था की दृढ़ता तुम्हारे शरीर, मन तथा आत्मा को दृढ़ बनाती रहे। यथार्थ विद्या तभी फलीभूत कही जा सकती है जब वह यह स्वीकार करती है कि मानव जाति में प्रत्येक समुदाय तथा मत जहाँ एक ओर आधारभूत एकता से बंधा हुआ है, वहां वह उसे कुछ न कुछ विशेष लाभ भी प्रदान करती है।

सच तो यह है कि संसार का कोई देश ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा नहीं है जिसे भारत के समान विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा हो अथवा जिसने विदेशी शासन काल में इतनी हानि उठाई हो। इतना सब होते हुए भी भारतीय विपत्ति के किसी भी नए तुफान का साहस पूर्वक सामना करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। इसका मूल कारण यही है कि उनके जीवन आज भी न्यूनाधिक प्राचीन आदर्शों की भूमि पर दृढ़ता से जमे हुए हैं। ये आदर्श उनकी जीवन प्रणाली के लिए आधार शिला का काम देते हैं। ईश्वर में विश्वास ही आत्मा में विश्वास है। वे निस्संकोच इस बात पर विश्वास करते हैं कि उनके इस विश्वास ने ही उनका पथप्रदर्शन किया है, और उनकी रक्षा की है।

भारतीय जीवन के ये मार्ग दर्शक सिद्धान्त कभी देश की भौगोलिक

सीमाओं से बंधकर नहीं रहे। चाहे इस देश के लोगों ने यह चाहा हो अथवा न चाहा हो, ये सिद्धान्त दूसरे देशों में फैल रहे हैं। ये अन्य देश वासियों के विचारों तथा भावों में मानव मूल्यों को भरकर उनके साहित्यों को रूपान्तरित कर रहे हैं।

प्राकृतिक विज्ञान हमें केवल भोजन, वस्त्र आदि प्रदान कर सकता है। पर हमें शक्ति और दृढ़ता आध्यात्मिक ज्ञान द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। छात्रों को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। तुम स्वयं विचार करो कि यदि तुम में शक्ति, साहस और दृढ़ता का अभाव है तो खाना, कपड़ा भौतिक सुविधायें तुम्हारे किस काम आयेंगी ?

पुनः यदि हम राष्ट्र की समृद्धि चाहते हैं, तो हमें निश्चित रूप से अपने सभी आध्यात्मिक स्त्रोतों को एकत्र करना पड़ेगा। भूत काल में हम इस आवश्यकता को समझते थे और उसे पूरा करने के लिए हमने प्रयत्न भी किए। कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे सभी आध्यात्मिक झुकाव, विश्वास, और प्रेरणायें, जो आज निर्बल और निर्जीव सी हो गयी हैं, पुनः एक दूसरे से जोड़कर शक्तिशाली और फलदायी बनायी जानी हैं

भारतीय धर्म की विशिष्टतायें ही उसकी दृढ़ नीव हैं। वे उतनी ही व्यापक हैं जितना कि आकाश और उतनी ही चिरंतन है जितनी प्रकृति। धर्म के विभिन्न अंगों के रूप में मत और सम्प्रदाय वैसे ही पाये जाते हैं जैसे कि वृक्ष की शाखाएँ। उन्हें गलत कह कर उनकी निन्दा नहीं करनी चाहिए। किन्तु किसी भी शाखा को किसी दूसरी शाखा से लड़ने अथवा उससे होड़ा-होड़ी (प्रतिद्वन्द्विता) करने की आवश्यकता नहीं। जब ऐसा होने लगता है, तो वृक्ष नष्ट हो जाता है, और सभी नष्ट हो जाते हैं। जब विभिन्न मत एक दूसरे से प्रतिद्वन्द्विता करने लगते हैं, तो धर्म का नाश होता है और संसार नष्ट हो जाता है। 'एकं सत् विप्रं बहुधा वदन्ति'-सत्य एक ही है किन्तु विद्वानों ने उसे कई ढंग से कहा है।

परमेश्वर के नाम रूप और गुणों के सम्बन्ध में हममें से प्रत्येक के अलग अलग विचार हो सकते हैं। एक व्यक्ति यह विश्वास करता है कि ईश्वर मानव के स्परूप में पाया जाता है और उसमें मानवीय गुण होते हैं। दूसरा इस पर विश्वास करता है कि ईश्वर का कोई स्वरूप नहीं होता, न

ही उसके कोई चिन्ह होते हैं, फिर भी वह अलग-अलग अवतारों द्वारा अपने को प्रकट करता है; कुछ लोगों को यह विश्वास होता है कि ईश्वर सर्वथा निराकार है। इनमें से प्रत्येक श्रद्धालु को अपनी आस्था के समर्थन में वेदों में सामग्री मिल सकती है। सभी ईश्वर की सत्ता पर विश्वास करते हैं। उस रहस्यमयी शक्ति पर विश्वास करते हैं, जो सभी का स्रोत है, सहायक है और जीवन दायिनी है, और जिसमें सभी समाहित हैं। वेदों में इसी सत्य की व्याख्या की गई है और उसका उदघोष है।

चौदह

ईश्वर के नाम और रूप के सम्बन्धों में कोई भी उपदेश हो उसका इतना महत्व नहीं है। हमको इस सम्बन्ध में पाई जाने वाली विभिन्नताओं के विषय में झगड़ा करने की आवश्यकता नहीं। ईश्वर के सम्बन्ध में दिए गए उपदेश मानवता की पर्याप्त सेवा है चाहे वे किसी धर्म द्वारा दिए गए हों। यद्यपि अन्य लोग इसे मानते हैं, किंतु भारतीय इस मत से सहमत नहीं हैं कि विश्व और यह ब्रह्माण्ड जिसका कि वह एक भाग है केवल कुछ हजार वर्षों पूर्व ही रचा गया है और भविष्य में किसी समय यह प्रलय में नष्ट हो जाएगा। न ही वे इस कथन को मानने को तैयार हैं कि इस ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति शून्य से हुई । वे यह मानते हैं कि प्रकृति की रचना शून्य से नहीं हुई बल्कि वह तो सदैव ही पूर्ण रही है। इसका न आदि है और न अन्त। इसके केवल स्थूल और सूक्ष्म रूप अवश्य हैं। ऐसा परिणाम निकालना कि चूँकि प्रकृति की पूर्णता का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण हमारे सम्मुख नहीं है इसलिए निश्चय ही सर्व प्रथम शून्य ही रहा होगा, प्रबुद्धता का चिन्ह नहीं है। प्रकृति के अस्तित्व के अन्य स्तर भी हैं, जो विचारणीय हैं।

उदाहरणार्थ मनुष्य केवल एक शरीर नहीं है। उसके इस स्थूल शरीर में एक सूक्ष्म शरीर भी हैं-मन; और मन से भी सूक्ष्म है जीवात्मा। यह जो जीवात्मा है, इसका न कोई आदि है न अन्त। न कहीं इसके विनाश का कोई चिन्ह दिखाई पड़ता है। भारतीय इस सत्य पर विश्वास करते हैं। यह आस्था और विश्वास स्वयं वेदों की उद्घोषणा पर आधारित है। हम

जब परमात्मा का ध्यान करते हैं तो अपने नेत्र बन्द कर लेते हैं। हम अपना मुख इधर-उधर घुमाकर अथवा ऊपर उठा कर परमात्मा को कहीं बाहर नहीं खोजते। अन्य लोग यह मानते हैं कि उनके धर्म ग्रंथ दैवी प्रेरणा प्राप्त महापुरुषों द्वारा लिखे गए हैं। किन्तु भारतीयों के लिए तो वेद स्वयं ही ब्रह्म वाक्य हैं जो ऋषि मुनियों के हृदयों से उत्पन्न हुए हैं।

विद्यार्थियो ! जो व्यक्ति दिन रात अपने को तुच्छ और दुर्बल कहकर अपनी भर्त्सना किया करता है, वह जीवन में कभी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। जो यह सोचता है कि मैं भाग्यहीन हूं, पतित हूं, वह सचमुच भाग्यहीन और पतित हो जाता है। बजाय इसके यदि तुम्हें इसका बोध हो जाता है कि सचमुच तुम उस परमात्मा की ही एक चिनगारी हो एक अंश हो; कि तुम्हारी यथार्थता भी स्वयं दिव्यत्व है तो तुम निश्चय ही दिव्य बनोगे और सभी शक्तियां तुम्हारे आधीन होंगीं। 'यद भावं तद् भवति' जैसा सोचोगे वैसा ही होगा। इसमें महत्वपूर्ण वस्तु यह है कि तुम क्या सोचते हो ? तुम्हारे सम्पूर्ण अस्तित्व का वही आधार है। अपनी आत्मा में विश्वास रक्खो। मनुष्य के लिए यह सबसे आवश्यक है। इसके अभाव में मनुष्य दुर्गुणों और दुष्टता में फंस कर, उसी में प्रसन्न होकर अपने को दानवत्व में बदल देता है। तुम्हारे पूर्वजों ने इसी दृढ़ विश्वास के आधार पर सम्पन्नता, शांति और आनंद प्राप्त कर अपने लक्ष्यों को प्राप्त किया। जब लोग अपना विश्वास खो देते हैं, तो उनका पतन अवश्यम्भावी है, क्योंकि यह आस्था और विश्वास ही तो प्राणवायु है। जब प्राणवायु निकल जाती है, मनुष्य एक शव मात्र रह जाता है। जब आस्था की यह सांस चलने लगती है, तो वह शिवम् हो जाता है, अर्थात् जो शिव हैं वही वह है। आत्मन् में विश्वास का होना ही शिव-सिद्धान्त की अभिव्यक्ति है, अर्थात् इस निष्ठा द्वारा व्यक्ति सब प्रकार की शक्तियों को प्राप्त कर सकता है, और इस प्रकार पूर्णत्व की स्थिति में पहुंच सकता है। कारण यह है कि आत्मन् अपनी प्रकृति से ही स्वत: पर्याप्त और पूर्ण है। अत: उस स्थिति की अनुभूति के लिए किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं।

निर्मलता भी हमारा स्वभाव है। परिपूर्णता भी आत्मा का स्वभाव है। मलिनता और अपरिपूर्णता मानव प्रकृति के विरुद्ध है। विद्यार्थियों को यह

तत्व न भूलना चाहिए, न ही इसकी अवहेलना करनी चाहिए। वास्तविक शिक्षा वही है जो हमारे अन्दर यह निष्ठा उत्पन्न कर सके और हमारे प्रत्येक कार्य को इस पूर्णता के बोध से भर सके। उचित शिक्षा का यही मूल है, यही अनिवार्य उद्देश्य है।

एक और भी सत्य है जो हमें ध्यान में रखना चाहिए। भारतीयों के लिए धर्म का अर्थ है अनुभव, उससे कम कुछ नहीं। हमारी दुष्टि में जब तक हम अपने प्रयत्नों से अर्जित न करें, हम किसी भी उपलब्धि के अधिकारी नहीं हैं। प्रत्येक मूल्यवान वस्तु के प्रति हमें स्वयं ही ध्यान देना चाहिए। व्यक्तिगत प्रयत्न और साधना को ही दैवी कृपा का फल मिलता है। धार्मिक सिद्धान्तों और निर्देशों को यथार्थ अनुभव आत्मासात् द्वारा ही करना चाहिए। केवल तोते की तरह उन्हें रटने से कोई लाभ नहीं।

सत्य को पहचानना चाहिए। यह पहला कदम है। जितनी शीघ्र हम सत्य को पहचान सकेंगे उतनी ही शीघ्र हमारे धार्मिक संघर्ष और विरोध समाप्त होंगे। जो परात्पर सर्वसत्ता है वह निकटतम से भी निकट है। अन्य सत्तायें निकट होते हुए भी अति दूर हैं। तुम्हें इस सत्य की जानकारी होनी चाहिए। तभी वे ग्रंथियाँ जिनमें हृदय फंसा हुआ है, ढीली होगीं।

पाश्चात्य शब्दावली में मनुष्य अपना जीवन त्याग देता है। भारतीयों की भाषा में मनुष्य शरीर त्याग देता है। पश्चिम के निवासियों का कथन है कि हम शरीर धारण करते हैं और शरीर में आत्मायें रहती हैं। भारतीय ऐसा नहीं कहते। वे कहते हैं कि मनुष्य के आत्मा होती है और यह आत्मा अस्थायी रूप से इस शरीर में बंद रहती है। अत: वे यह अनुभव करते हैं कि सांसारिक वैभव और इंद्रिय-सुखों की खोज करने वाली सभ्यतायें और संस्कृतियां बालू पर बनी हुई नींव के समान हैं, जो ढहने के पहले केवल कुछ समय के लिए चमक दिखलाती हैं।

छात्रो ! अनुकरण कभी संस्कृति नहीं बन सकता। तुम राजसी वस्त्र पहन लो और अभिनय करो किन्तु क्या तुम इस अनुकरण से राजा बन जाओगे? एक गधे को शेर की खाल पहना दो, तो क्या वह शेर बन जाएगा? अनुकरण कायरता का चिन्ह है। इससे व्यक्ति की कोई उन्नति नहीं हो सकती। सच तो यह है कि अनुकरण करने की यह प्रवृत्ति मनुष्य को धीरे-धीरे

पतन की ओर ले जाती है और उसे भयानक आकृति वाला बना देती है। तुम्हें अपने आपको अपने मूल रूप में ही उन्नति की ओर ले जाना चाहिए। तुम्हें भारतीय होने का गर्व होना चाहिए। तुम्हें अपने पूर्वजों पर गर्व होना चाहिए। तुम्हारा प्रशंसनीय वीरत्व तो इस बात में है कि तुम डंके की चोट पर अपने को भारतीय कहो। तुम भले ही पश्चिमी सभ्यता में पाये जाने वाले श्रेष्ठ गुणों को अपनाओ पर उनका और उनकी प्रवृत्तियों का अनुकरण मत करो।

हमें दूसरों से अच्छी बातें सीखनी चाहिए। हम धरती में बीज बोते हैं। हम उसे मिट्टी, खाद, पानी सब देते हैं। बीज अंकुरित होता है, पौधा बनता है और बढ़कर एक विशाल वृक्ष बन जाता है। जब वह मिट्टी में गाड़ा जाता है, तो मिट्टी नहीं बनता, न जब उसे खाद, दी जाती है तो वह खाद बन जाता है, और न ही वह पानी दिए जाने पर पानी में बदल जाता है। वह प्रत्येक वस्तु में से उतनी ग्रहण कर लेता है जितनी उसके लिए आवश्यक है और उसे लाभ पहुंचाती है। वह बढ़कर उसी मूल रूप में विकसित होता है, जो वह यथार्थ में है - अर्थात् एक विशाल वृक्ष में।

अच्छा हो कि तुम भी उसी प्रकार विकसित हो। तुम्हें दूसरों से बहुत कुछ सीखना है। निम्न में निम्न वस्तु अथवा व्यक्ति से उस सर्वोच्च सत्ता का ज्ञान प्राप्त करने में और वहां तक पहुंचने के साधनों को जानने में संकोच मत करो। उत्तरोत्तर आध्यात्मिक साधना का अभ्यास कैसे किया जाता है यह दूसरों से सीखो और इस ज्ञान से अपने को संतृप्त कर लो। किन्तु अपने को दूसरों के अनुरूप रूपातंरित मत करो। मानव के लिए मनुस्मृति का यह सामान्य आदेश है। विद्यार्थियों को यह शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यह सबसे प्रथम और प्रमुख तथा महत्वपूर्ण पाठ है जो उन्हें सीखना चाहिए।

पन्द्रह

तुम विद्या के करोड़ों क्षेत्रों के आचार्य बन जाओ; किन्तु यदि तुमने तटस्थ दृष्टिकोण नहीं अपनाया, तो तुम्हारा आचार्यत्व किसी काम का नहीं। विद्या तथा ज्ञान वही है जिसका आदान-प्रदान हो, जिसका उपयोग दूसरों की सेवा में किया जाए। विद्या का यही प्रमुख सूत्र है। यदि हृदय में सेवा भाव हो तो शिक्षा श्रेष्ठ कहलाती है। किन्तु इस सेवा में कहीं किंचित स्वार्थ का चिन्ह न होना चाहिए। इतना ही पर्याप्त नहीं। सेवा का यह भाव किसी प्रतिदान की आशा से दूषित न होना चाहिए। तुम्हें यह सेवा इसी रूप में करनी चाहिये, जैसे कि तुम एक यज्ञ कर रहे हो। जिस प्रकार वृक्ष स्वयं अपने फल नहीं खाते, बल्कि एक विरक्त भाव से अन्य प्राणियों को खाने के लिये प्रस्तुत करते हैं; जिस प्रकार नदियां स्वयं उस जल को नहीं पीतीं जिसे वे बहाकर लाती हैं, वरन् दूसरों की प्यास बुझाती हैं, और ताप से थकित व्यक्तियों को शीतलता प्रदान कर उनकी थकावट दूर करती हैं; जिस प्रकार गायें, वह दूध जो मुख्यतया उनके बछड़ो के लिये होता है, एक त्याग और उदारता की भावना से अन्य व्यक्तियों को भी प्रदान करती हैं, इसी प्रकार जिन लोगों ने विद्या ग्रहण की है और उसमें पारंगत हैं, उन्हें चाहिये कि वे सेवा भाव से, और बिना किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर मानवता की सेवा में लगायें, तभी वे सज्जन कहलाने के अधिकारी होंगे।

प्रामाणिक विद्वानों को किसी भी स्थिति में अपने विचारों में अहं को स्थान नहीं देना चाहिए। किन्तु दुर्भाग्य यह है कि एक-दो नहीं, विद्वानों का वर्ग का वर्ग अत्यधिक अहंकार से पीड़ित है। फलस्वरूप, वे गलत आदर्शों का अनुसरण करते हैं और गलत मार्गों पर चलते हैं। वे शिक्षा से प्राप्त होने वाले लाभों को अपने तक तथा सगे-सम्बन्धियों तक सीमित रखते हैं। परिणाम स्वरूप वे सज्जनों की श्रेणी में स्थान प्राप्त नहीं कर सकते और न ही वह आदर प्राप्त कर सकते हैं जो सज्जनों को प्राप्त होता है। प्रत्येक व्यक्ति को जो भी ज्ञान, कौशल अथवा अर्न्तदृष्टि उसने प्राप्त की है, उसका उदारता से वितरण करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया तो मानव प्रगति स्वयं संकट में पड़ जायेगी। अत: मानव जाति के सर्वोच्च हितों को उन्नतिशील

बनाने के लिये मनुष्य को अपने हृदय में परोपकार की भावना तथा साझेदारी की प्रवृत्ति को पल्लवित करना चाहिये।

'मानव सेवा माधव सेवा है' तोते की तरह इसे दोहरा देने से मानव मात्र की सेवा हो नहीं जाती। जो लोग इस उक्ति को समय-समय पर धड़ल्ले से कहते रहते हैं, वे यह भी पता नहीं लगाते कि जिन लोगों की सेवा करनी है वे हैं कौन ? वे केवल अपना पेट भरने के लिये आतुर रहते हैं इसी उद्देश्य से वे अपनी मानसिक क्षितिज के विस्तार को केवल स्वजनों की उन्नति तक ही सीमित रखते हैं। इस प्रकार वे उस बहुमूल्य शिक्षा को जो उन्होंने प्राप्त की है, व्यर्थ ही नष्ट कर देते हैं। मनुष्य यह तथ्य भूल जाता है कि ईश्वर तो गोचर रूप में सभी प्राणियों में उपस्थित है। इसलिये किसी भी प्राणी के लिये की गई सेवा परमात्मा की ही सेवा है। शिक्षित व्यक्ति का यही प्रमुख उद्देश्य होना चाहिए।

नर ही नारायण है। मानव ही परमात्मा है। अतः मनुष्य को अपना प्रत्येक कार्य ईश्वर की पूजा समझकर करना चाहिए। किन्तु विद्यार्थीगण आज तो यह भी नहीं जानते कि यथार्थ में नर क्या है, और नारायण क्या है? कोई भी व्यक्ति अपने को शिक्षित कहलाने का अधिकारी कैसे सिद्ध कर सकता है जबकि वह नर-नारायण के सिद्धांत तक को नहीं पहचानता? ये वे तत्व हैं जिन्हें उपनिषदों ने 'त्वम्' और 'तत्' अर्थात् 'तुम' और 'वह' कहकर सम्बोधित किया है। और वह शिक्षा जो व्यक्ति को स्वयं अपनी सत्ता का आत्मदर्शन नहीं करा सकती, वह भला किसी दूसरी सत्ता का आत्मदर्शन कैसे करायेगी, और यदि वह कराये भी तो वह किस काम की? किन्तु यह हमारा दुर्भाग्य है कि शिक्षित वर्ग जो आज स्वयं शिक्षक का कार्य कर रहा है, हमारे सर्वोत्तम हितों की वृद्धि नहीं कर रहा, बल्कि वह जितना कर सकता है उतना हमारा अहित कर रहा है। यह बड़े आश्चर्य की बात है। सही तो यह है कि शिक्षित व्यक्तियों को केवल उनकी ही सेवा न करनी चाहिये जो उनकी सहायता करते हैं वरन् उनकी भी जो उन्हें हानि पहुंचाते हैं। यदि सेवा करने वाले का दृष्टिकोण ऐसा होता है तो सेवा का महत्व दुगुना बढ़ जाता है। 'जो हमारी सेवा करते हैं' उनकी 'सेवा करना तो स्वाभाविक' प्रतिक्रिया है। किन्तु जो हमें हानि पहुंचाते हैं उनकी सेवा करना

एक सद्‌गुण है। कारण यह कि सेवा की ऐसी प्रवृत्ति में हमारे सर्वश्रेष्ठ हितों की गहरी जानकारी निहित है तथा समय, स्थान तथा परिस्थिति के प्रति जागरूकता का भाव भी। शिक्षा का यह कर्त्तव्य है कि वह न केवल ऐसे सद्‌गुणों को जन्म दे, वरन् दूसरों को भी प्रदान करे।

अशिष्ट लोगों के साथ बात करते समय हमें सावधान रहना चाहिये। इसी प्रकार कृतघ्न लोगों से भी सावधान रहना चाहिये क्योंकि वे किसी के द्वारा की हुई भलाई को भूल जाते हैं। अपराध करने वालों को सरकार तो कानून द्वारा दण्ड देती है। किन्तु पढ़े-लिखे व्यक्तियों और विद्यार्थियों को उन्हें एकदम लज्जित न करना चाहिये। उन्हें सभी के प्रति अपना तत्स्थ भाव ही प्रदर्शित करना चाहिए और सदैव सहायता का दृष्टिकोण अपनाना चाहिये।

मातृभूमि की रक्षा करना प्रत्येक व्यक्ति का परम कर्त्तव्य है। वह प्रत्येक विद्यार्थी का प्रमुख कर्त्तव्य है। जब तक कि कोई विद्यार्थी परिस्थिति पड़ने पर यह निर्णय न ले सके कि उसका क्या कर्त्तव्य है और उसे तत्काल क्या करना चाहिये वह बहुत कुछ सीखने अथवा जानने का दावा नहीं कर सकता। शिक्षित व्यक्ति को और छात्र को जो शिक्षा ग्रहण कर रहा है निश्चित रूप से सादगी की आदत डालनी चाहिये। तड़क-भड़क और प्रदर्शन को त्यागना चाहिए। जो लोग दिखावे और तड़क-भड़क के अभ्यस्त होते हैं, वे अपने सहजस्व भाव और व्यक्तित्व को खो देते हैं। छात्रों को यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखनी चाहिये। भले ही कोई व्यक्ति सभी विज्ञानों का पंडित हो जाए, किन्तु कभी भी सच्चे विद्वानों और पंडितों में उसकी गणना नहीं होगी, यदि उसमें अन्य व्यक्तियों के साथ व्यवहार करते समय यथोचित विनम्रता और अनुशासन नहीं है। ऐसे व्यक्तियों का समाज में कभी आदर न होगा। थोड़े समय तक लोग भले ही उनका आदर करें, किन्तु शीघ्र ही उनके प्रति उस आदर भाव का लोप हो जायेगा। ऐसे आदर के पात्र को भी कोई श्रेय नहीं देता। सरलता और सादगी ही व्यक्ति को आदर का पात्र बनाती है। इन गुणों से विभूषित व्यक्ति ही सम्मान का आनन्द उठा सकता है। विद्वता का पागल प्रदर्शन बारी-बारी से ख्याति और निंदा दोनों के झोंके लाता है। जब व्यक्ति आडम्बर छोड़ देता है, तो उसे समाज से स्थायी आदर

प्राप्त होता है। वास्तविक शिक्षा मनुष्य में त्याग की भावना, आडम्बर से घृणा तथा दूसरों की सेवा के लिए तत्परता को जन्म देती है।

कुछ लोग थोड़ा सा ज्ञान प्राप्त करते ही घमंड से फूल जाते हैं और अपने को न जाने क्या समझने लगते हैं, और दिन भर अपनी उपलब्धियों की डींग हांका करते हैं। वे इस तरह चलते फिरते और व्यवहार करते हैं जैसे वे सब कुछ जानते हैं। 'जिस पत्तल पर पूरा भोजन परोसा गया है वह तो भोजन के भार से भूमि पर ही रहती है, किन्तु जिस पत्तल पर कुछ भी नहीं परोसा गया, वह हवा के हर झोंके के साथ ऊपर की ओर उचकती और गिरती है।" यह एक कहावत है। ठीक इसी प्रकार जो व्यक्ति सचमुच विद्वान है और जिसे अनेक कौशल (हुनर आते हैं, वह अत्यन्त सरल और निर्राभमानी जीवन व्यतीत करेगा। किन्तु जिसने उचित और वास्तविक शिक्षा प्राप्त नहीं की और उसकी शक्ति से परिचित नहीं है, वह सदैव आडम्बर और अहंकार से घिरा रहता है। वह सदैव इस बात के लिए चिंतित रहता है कि कहीं उसके दोष दूसरों पर प्रकट न हो जायें। किन्तु अन्त में अपने दोषों को छिपाने के उसके सारे प्रयत्न विफल होते हैं और उसकी कलई खुल जाती है। उसका दोहरा विनाश होता है-एक ओर वह आनन्द का अनुभव नहीं कर पाता और दूसरी ओर वह स्वयं दूसरों को आनन्द प्रदान नहीं कर सकता। इस प्रकार वह दूसरों की हंसी और निन्दा का पात्र बनकर रह जाता है।

अत: तड़क-भड़क और दिखावें की इच्छा को मन में न पनपने दो। अंहकार को अपने पास भटकने भी न दो। सदैव विनयशील रहो और उच्च आदर्शों के प्रति स्वामिभक्ति रखो। तभी तुम विश्व शांति और समृद्धि के महान उद्देश्य को पूरा कर सकोगे। "श्रेयस्ते विश्व श्रेया:"। जब व्यक्ति स्वयं को सज्जन बनाने में सफल होता है, तभी संसार और समाज भी सुधर कर उत्तम बनता है। जो भी व्यक्ति अपने को सच्चा विद्यार्थी बनाना चाहता है, उसे अपने सम्मुख विश्व-शांति और सम्पन्नता का आदर्श रखना होगा। उसे आडम्बर हीन बनना पड़ेगा। उसे दूसरो की सेवा करने की प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी। सच्ची शिक्षा या विद्या का यही सार है।

सोलह

विद्यार्थी में प्राणीमात्र के लिए दया, करुणा तथा प्रेम का भाव होना चाहिए। सभी के प्रति दया का भाव उसके स्वभाव का अंग होना चाहिए। यदि उसमें इसका अभाव है, तो वह असभ्य ही कहा जाएगा। विद्या के सभी लक्षणों में सबसे प्रमुख लक्षण है सभी प्राणियों के लिए करुणा का भाव। यदि कोई व्यक्ति किसी प्राणी के प्रति द्वेष रखता है, तो उसकी शिक्षा का कोई अर्थ नहीं। गीता में कहा गया है, "अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्" अर्थात् "किसी भी प्राणी के प्रति द्वेष या दुराभाव का न होना। इसी प्रकार स्थान-स्थान पर गीता इस बात की चेतावनी देती है कि किसी भी प्राणी का अपमान करना, उसे कष्ट पहुंचाना, अथवा उसकी अवहेलना करना स्वयं परमात्मा का अपमान करना, कष्ट पहुंचाना अथवा अवहेलना करना है। गीता कहती है, "सर्वजीव तिरस्कारं केशवं प्रतिगच्छति।" प्रेम और करुणा केवल मानव मात्र तक सीमित न रहनी चाहिए, वरन् विश्व के सभी प्राणी उसके पात्र हैं।

गीताकार का कथन है, "शुनि चैव श्वपाके च पण्डित: समदर्शिन:" अर्थात् वह विद्वान् जिसने विद्या द्वारा विनय प्राप्त करली है, गाय, ब्राह्मण, हाथी, कुत्ता और कुत्ते के मांस खाने वाला-सभी को समान दया और उदारता के भाव से देखता है। इस प्रकार प्रदर्शित समान करुणा और दया की भावना उसको प्राप्त करने वालों के लिए एक समान कल्याण भावना में बदल जाती है। सबका कल्याण चाहना विद्या अर्जित करने वाले का मुख्य लक्षण है। किसी भी समाज अथवा सम्प्रदाय तक सीमित संकीर्ण दृष्टिकोण त्याग देना चाहिए। भारतीय संस्कृति तो सर्वोच्च सत्य और व्यापक दृष्टिकोण पर ही बल देती है। इस आदर्श की शिक्षा ही विद्या का उद्देश्य है। विश्व के किसी देश ने अपने निवासियों के सम्मुख ऐसा उच्च सब कुछ सम्मिलित करने वाला कल्याणकारी आदर्श नही रक्खा।

आज यदि देश की यह दुर्दशा हो रही है तो उसका कारण इस आदर्श की अवहेलना है। विद्या अत्यन्त जड़ता पूर्वक परिसीमित (एक रेखा में बन्द) करली गई है। हमारी शिक्षाप्रणाली ने सामाजिक जीव को संकीर्णता और कुटिलता का सहारा ले अत्यन्त दूषित बना दिया है। अत: हमें शिक्षा-व्यवस्था

में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने होंगे। इस समय तो हमारे पास केवल पुस्तकीय ज्ञान है। किन्तु पुस्तकों से जो भी सीखा जाता है, उसे सामाजिक जीवन में प्रयोग में लाकर पुष्ट किया जाता है, और जहाँ आवश्यक हो उसका सुधार किया जाता है। तभी जाकर मानव-मानव के बीच में जो सम्बन्ध है, उसका ज्ञान प्राप्त हो सकेगा और तभी यह ज्ञान विद्या में परिवर्तित होगा। पठन, लेखन और गणित के ज्ञान-मात्र से विद्या प्राप्त नहीं हो सकती।

गंभीरता पूर्वक विचार करके प्रत्येक विद्यार्थी को हर अवसर पर अपने मार्ग दर्शन के लिए यह निश्चय करना चाहिए कि उसके लिए कौन-सा लक्ष्य सर्वोत्तम है और उसे प्राप्त करने के लिए उसे क्या करना चाहिए। आपके कार्य और लक्ष्य दोनों समाज के प्रति समर्पित होने चाहिए और उसकी प्रगति में सहायक होने चाहिए। लोगों को अन्याय, हिंसा और अनैतिकता में न फंसना चाहिए। न ही उन्हें अपना लाभ सर्वोपरि समझना चाहिए।

विद्यार्थियों को एक अन्य महत्वपूर्ण गुण की ओर भी ध्यान देना चाहिए। वह है स्वच्छता-बाहरी तथा भीतरी दोनों। जब इसमें से एक की भी कमी होती है, तो वह मनुष्य किसी भी काम के योग्य नहीं रहता। वह जो वस्त्र पहनता है, जिन पुस्तकों को पढ़ता है, जिस वातावरण में रहता है, वह सब स्वच्छ होना चाहिए। यह तो हुई बाहरी स्वच्छता। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक भौतिक पदार्थ जो उसे जीवन-यापन के लिए प्रयोग मे लाना है, स्वच्छ होना चाहिए। दांत, आंख, भोजन, पानी-सभी धूल और गंदगी से मुक्त होना चाहिए। व्यक्ति यदि इन सबका ध्यान रक्खे और स्वच्छ रहे तो वह स्वस्थ रह सकता है। शरीर को प्रतिदिन रगड़कर साफ करना चाहिए और धोना चाहिए, अन्यथा धूल की पर्तों से खुजली हो जाएगी और फोड़े-फुंसियाँ निकल आयेंगीं। इससे आगे चलकर दूसरों के बीमार होने की भी आशंका है। साथ ही रोगी की स्वयं की दशा अत्यन्त दयनीय हो जाती है। हो सकता है कि तुम्हारे पास कपड़ों के एक दो ही जोड़े हों। किन्तु सदैव पहनने के पहले उनको नियम से धोना चाहिए। उनमें धूल आदि न होनी चाहिए।

पढ़ाई में काम आने वाली पुस्तकें जहाँ मन चाहे वहाँ न फेंकनी चाहिए। पुस्तक के पृष्ठों पर गिचपिच लिखकर उसे गंदा न करना चाहिए। कागज बिल्कुल साफ और बेदाग होना चाहिए। जो कोई भी उन पुस्तकों को देखे

वह उन्हें स्वच्छ रखने के लिए विद्यार्थी की प्रशंसा करे। जिस कमरे में वह रहता है, उसमें कहीं से दुर्गंध न आनी चाहिए। विद्यार्थी को इस ढंग से रहना चाहिए कि वह सभी का प्रेम-पात्र बन सके। जिस कमरे में वह रहता है, वह कमरा और उसके आसपास की जगह बिल्कुल स्वच्छ रहनी चाहिए। इसी तरह कमरे के अन्दर कोई अश्लील या भद्दा चित्र न लगा होना चाहिए। हमारे नेत्रों के समक्ष केवल ऐसे चित्र रहने चाहिए जो महान् विचारों और उच्च आदर्शों की प्रेरणा दे सकें।

व्यक्ति कितना ही धनी क्यों न हो, वह बिना स्वास्थ्य के सुखी नही रह सकता । उसने जिस सम्पत्ति का संग्रह किया है, वह उससे भी पूरा आनंद नहीं उठा सकता। यदि वह भोजन कर लेता है तो वह शिथिल पड़ जाता है, और यदि नहीं करता तो अपने को दुर्बल अनुभव करने लगता है। इस प्रकार वह किसी भी दशा में प्रसन्न न रहता हुआ अपना जीवन व्यतीत करता है अत: बाहरी स्वच्छता मनुष्य को स्वस्थ और सुखी बनाती है।

अब हम आन्तरिक स्वच्छता पर विचार करेंगे। तात्पर्य यह कि मन को मलिनता और बुरे विचारों से मुक्त रखना जिससे वह शांत और पवित्र रहे। जब विचार और भावनायें मलिन तथा उत्तेजित होती हैं, तो व्यक्ति शांत और प्रसन्न नहीं रह सकता। यदि मन दूषित हो तो उसकी प्रतिक्रिया भी प्रदूषित ही होगी। मन को स्वच्छ रखने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की परिस्थितियों और कार्यों का सहानुभूतिपूर्ण विश्लेषण करे और तब यह निश्चय करे कि उसे पत्युत्तर में क्या करना चाहिए। उसे शीघ्रता में किसी परिणाम पर न पहुंचना चाहिए। जैसा दूसरा कर रहे हैं उसकी प्रतिक्रिया में हम भी वैसा करें, यह वाञ्छनीय नहीं। प्रत्येक कार्य करने के पूर्व व्यक्ति को बुद्धि और विवेक से सत्य का पता लगाना चाहिए और तभी किसी कार्य का निर्णय लेना चाहिए। "कुछ लोग जिन्हें हम अपना समझते हैं एक ढंग से काम कर रहे हैं, इसलिए हम भी वैसा ही करें" ऐसा दृष्टिकोण अत्यन्त संकीर्ण है। वह हमारी दुर्बलता का द्योतक है। वह हमारी अज्ञानता का परिणाम है। ऐसा व्यवहार ही भेड़िया समान है।

मनुष्य के रूप में जन्म लेकर और शिक्षित व्यक्ति के समान समाज में रहते हुए यदि हम मूर्खता पूर्वक भेड़ों के समान दूसरों का अंधानुकरण

करते हैं, और दूसरों की कही हुई बातों से प्रभावित होकर अपने मन को दूषित विचारों से भरते हैं, तो हम केवल उपहास और दया के पात्र होंगे। अत: हमें इन सबसे बचना चाहिए।

दूसरों के द्वारा प्रकट किए हुए विचार तथा उनकी घोषणायें बहुधा वैयक्तिक हो सकती हैं, अथवा हो सकता है कि उनके द्वारा लोगों में द्वेष की भावना उत्पन्न हो। अत: हम उन्हें क्यों मानें, और अपनी भावनाओं को उनके अनुसार क्यों मोड़ें? हमें अपनी भावनाओं और व्यवहार-पद्धति को दूसरों के अनुसार ढालने का प्रयत्न न करना चाहिए। हमें अपनी निष्ठा, अपना अनुभव तथा अपनी जन्म-जात पवित्रता का त्याग नहीं करना चाहिए।

हम सदैव अपनी निष्ठा अथवा विश्वास के कारणों से परिचित हों, यह आवश्यक नहीं। बहुत कुछ यह हमारी व्यक्तिगत रुचि और अरुचि से उत्पन्न होती है, और जिस प्रकार के विचार और भावनायें हमारे मन पर हावी होते हैं, उसी के अनुसार अपने को ढालती है किन्तु हमें क्रोध, घृणा अथवा ईर्ष्या का शिकार न होना चाहिए, और जिन कामों के लिये ये हमें प्रेरित करते हैं, उन दुष्कर्मों से बचना चाहिए। विद्यार्थी के विचार बड़े व्यापक और उदार होने चाहिए। तभी वह उच्च शिक्षा का अधिकारी कहा जा सकता है। तभी समाज में उसका सम्मान होता है। उसे संकीर्ण स्वार्थी विचारों, भावों और योजनाओं से बहुत दूर रहना चाहिए।

सत्रह

मनुष्य की सभी चिन्ताओं और आपतियों की जड़ ईर्ष्या है। गीता से हमें पता चलता है कि कृष्ण अर्जुन को समय समय पर कहते हैं:—"अर्जुन। तुम्हें ईर्ष्या रहित होना चाहिये। डाह और ईर्ष्या के शिकार मत बनो।" ईर्ष्या के साथ घृणा अवश्य रहती है। ये दोनों जुडवां शत्रु हैं। विषैले रोगों की भांति हैं तथा मानव-व्यक्तित्व की जड़ों पर सीधा प्रहार करती हैं।

वृक्ष कोई भी फूलों और फलों से लदा हुआ आकर्षक दिखाई देता है। किन्तु जब विनाशक कीटाणु उसकी जड़ों को खाने लगते हैं, तो कल्पना

कीजिए कि उसके सौंदर्य का क्या होता है? यहां तक कि जब हम उसके सौंदर्य को प्रशंसा से देखते हैं, फूल मुरझा जाते हैं, फल सूखकर गिर पड़ते हैं और पत्तियां पीली पड़ जाती हैं जिन्हें हवा इधर-उधर बिखेर देती है। अन्त में वृक्ष स्वयं सूख जाता है, वह मर जाता है और उखड़ कर गिर पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जब ईर्ष्या और द्वेष के कीटाणु हृदय में प्रवेश कर जाते हैं और अपना काम करने लगते हैं, व्यक्ति कितना ही बुद्धिमान् और शिक्षित क्यों न हो, उसका पतन होने लगता है। वह समाज का शत्रु बन जाता है। मानवत्व से गिर जाने के कारण वह निंदा और भर्त्सना का केन्द्र बन जाता है। सभ्य समाज के सदस्यों में उसकी गणना नहीं होती। अन्त में, उसके अत्यन्त विश्वासपात्र मित्र भी उसके शत्रु बन जाते हैं और उसका साथ छोड़ देते हैं। वह अपने समुदाय का आदर खो बैठता है, और लोग उसके प्रति सामान्य शिष्टाचार भी नहीं बरतते। इस प्रकार वह अपने दिन निरंतर दुर्दशा में व्यतीत करता है।

कोई भी शत्रु इतना विश्वासघाती नहीं होता जितनी कि ईर्ष्या या मात्सर्य। जब कोई व्यक्ति किसी अन्य को अपने से अधिक शक्तिशाली, अधिक ज्ञानवान्, अधिक ख्याति प्राप्त, अधिक धनी, अधिक सुन्दर यहां तक कि अपने से अधिक अच्छे वस्त्र पहने हुए देख लेता है, तो ईर्ष्या तथा द्वेष से भर जाता है। वह इस तथ्य अथवा इस परिस्थिति को सहन नहीं कर पाता। अत: उसका मन निरंतर इस उधेड़ बुन में लगा रहता है कि ऐसे व्यक्तियों को लोगों की दृष्टि में कैसे नीचा दिखाया जाए। किन्तु विद्यार्थियों तथा शिक्षित जनों को अपने मंन में ऐसी दुष्प्रवृत्तियों को कभी न पनपने देना चाहिए। उन्हें इससे सावधान रहना चाहिए कि ये उसके चरित्र को कलुषित न करें।

विद्यार्थियों को चाहिये कि जब दूसरे लोग गुणों और आदर्शों के लिए प्रशंसित किये जायें अथवा उनका आदर किया जाए, तो वे भी प्रसन्न हों और आनन्द से भर जायें। इन्हें व्यापक दृष्टिकोण तथा पवित्र ध्येयों के संस्कार डालने चाहिए, उन्हें इस बात से सदैव सतर्क रहना चाहिए कि ईर्ष्या का दानव उन पर अधिकार न कर ले। यदि उसने एक बार भी उनके मन पर अधिकार कर लिया तो निश्चय ही उनके मूल्यवान गुणों को नष्ट कर देगा। वह उनका स्वास्थ्य बरबाद कर देगा तथा उनकी पाचन शक्ति को

भी हानि पहुंचायेगा। वह उनकी नींद हरण कर लेगा। वह उनकी शारीरिक और मानसिक शक्तियों का शोषण कर लेगा और उन्हें ऐसी स्थिति में पहुंचा देगा जैसे वे पुराने क्षय रोग के रोगी हों।

विद्यार्थियों को चाहिये कि जो लोग उनसे अधिक अच्छा काम करते हैं, उनसे होड़ लगायें और उन्हीं के समान प्रशंसा प्राप्त करें। उन्हें दूसरे के समान ही ज्ञानार्जन करना चाहिये और परीक्षाओं में उतने ही बल्कि उससे भी अधिक अंक प्राप्त करने चाहिये। ऐसी स्पर्धा उचित कही जायेगी। किन्तु इसके बजाय यदि वे दूसरों का पतन चाहते हैं और यह चाहते हैं कि सफल छात्रों की सूची में केवल हमारा ही नाम रहे, तो वे अपनी पशु-वृत्ति का परिचय देते हैं। ऐसा भाव उन्हें सर्वनाश की ओर ले जायेगा। इसका विष प्राणघातक है।

इसी प्रकार दूसरों की निंदा और अपनी प्रशंसा करना भी बहुत अधिक घातक है। अपनी क्षुद्रता और दुष्टता को छिपाने का प्रयत्न करना तथा अच्छाई का मुखौटा लगाना, अपनी त्रुटियों को सही सिद्ध करना और अपनी सफलताओं का बढ़ा-चढ़ाकर बखान करना—ये सब भी विषैले लक्षण हैं। उतनी ही विषैली आदत है दूसरों के गुणों की उपेक्षा करना और बड़े ध्यान से दूसरों की कमियों की खोज करना। कभी भी दूसरें के प्रति अपमानजनक शब्दों का प्रयोग मत करो। जब किसी से हमारी मित्रता होती है और वह हमारा अत्यन्त प्रिय होता है, तो वह जो भी करता है हमें अच्छा लगता है। किन्तु जब हवा का रुख बदल जाता है और हम उससे घृणा करने लगते हैं, तो वह जो अच्छा काम भी करता है, वह हमें बुरा ही दिखाई देता है। ये दोनों प्रतिक्रियायें गलत हैं। इनमें एक भी सराहनीय नहीं है। 'सुमति शतक' में एक श्लोक है जो यह शिक्षा देता है, "ऐ सुमति तू यह समझ ले कि जब मैत्री प्रगाढ़ होती है, तो अनुचित भी उचित होता है, और जब मैत्री समाप्त हो जाती है, तो उचित भी अनुचित लगता है।"

विद्यार्थी को चाहिये कि वह अपने को सुमति वाला बनाए। उसे दुर्मति बनने से अपने को बचाना चाहिये। आग की एक छोटी-सी चिनगारी भी ईंधन के बहुत बड़े ढेर को जलाकर राख के ढेर में बदल देती है। जहर की एक बूँद भी दूध से भरे हुए पूरे पात्र को विषैला बना देती है, और वह

पीने योग्य नहीं रहता। ईर्ष्या और द्वेष ऐसी ही चिनगारियां हैं जो मनुष्य के सारे गुणों को नष्ट कर देती हैं।

छात्रों को अपनी भावनाओं और प्रतिक्रियाओं पर सदैव दृष्टि रखनी चाहिये। उन्हें सदैव इसका प्रयत्न करना चाहिये कि स्वार्थ, ईर्ष्या, क्रोध, लोभ और इसी प्रकार की अन्य दुष्प्रवृत्तियां उनके मन में प्रवेश न कर सकें। ये ऐसे जाल है जिनमें मनुष्य सहज में फंस जाता है। ये दुर्गुण जब मनुष्य पर हावी हो जाते हैं, तो उसकी पवित्रता क्षीण पड़ जाती है, और उसके मन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ता। व्यक्ति स्वयं को भूल जाता है तथा एक निम्न व्यक्ति के समान-ऐसा व्यक्ति जो सदैव किसी आवेश में रहता है—व्यवहार करने लगता है। वह बिना अच्छे या बुरे परिणाम की चिन्ता किए हुए जो जबान पर आता है बकने लगता है। वह अपने हाथों से वह काम करना चाहता है, जो उसके हाथों को पसन्द है।

ईर्ष्या कुटिलता से बाज नहीं आती। वह दूसरों को व्यर्थ बदनाम करने में बड़ा आनन्द लेती है। नवयुवकों में यह दुर्गुण अत्यधिक व्यापक है। स्वाभाविक रूप से वे इसके शिकार हो जाते हैं क्योंकि यह अज्ञानता का लक्षण है। इस आदत से छुटकारा पाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिदिन प्रातः काल और रात्रि में सोने से पहले कुछ समय इस चिन्तन में लगाना चाहिए कि कौन-कौन से दुर्गुन तथा दुर्बलतायें धीरे-धीरे हमारे मन पर अधिकार जमा रही हैं। जब एक बार हमें भगवत्कृपा प्राप्त हो जाती है तो फिर हमें निश्चिंत हो जाना चाहिए कि कोई दुर्गुण हमारे चरित्र को बिगाड़ नहीं सकता। ऐसा विवेकशील छात्र अपनी सद्भाषा, सद्व्यवहार तथा सत्संग से दूर से ही पहचाना जा सकता है।

यही कारण है कि मैं बहुधा इस बात पर बल देता हूं कि "जो नेत्र बुरा देखना चाहते हैं, जो कान बुरा सुनना चाहते हैं, जो नाक गन्दगी से प्रभावित होती है, जो हाथ बुरे काम करने में रुचि लेते हैं—उन सबसे पूर्णतया बचना चाहिए। जिस व्यक्ति में इनमें से कोई भी दुर्गुण पाया जाता है, उससे बचिए। अन्यथा ऐसे व्यक्ति का भविष्य सदैव विनाशवान् होगा। पांच इंद्रियों द्वारा किये हुए उसके दुष्कृत्यों से पांच प्राण नष्ट हो जावेंगे और इसके फलस्वरूप पांच कोषों का नाश हो जाएगा। यह सच है कि इंद्रियों द्वारा

तुम्हें क्षणिक सुख और आनन्द मिलता है, किन्तु जैसी कहावत है कि 'बुढापा द्वार खटखटाता है'—इंद्रिय-सुख बहुत ही शीघ्र महान् दु:ख को अपने साथ लाता है।

छात्रों में अन्य सभी गुणों की अपेक्षा अपने पर विश्वास अवश्य होना चाहिए। आत्म-विश्वास का अभाव उसके पतन का सूत्रपात है। आज यदि इस विश्व में चारों ओर विनाश के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं तो उसका मुख्य कारण लोगों में आत्मविश्वास की कमी है। प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विश्वास द्वारा ही शांति और सम्पन्नता प्राप्त हो सकती है। उसे सब जगह सद्भाव ही मिलता है, और सभी स्थानों पर उसका आदर किया जाता है। वह जिसे छू देता है, सोना हो जाता है। जिस व्यक्ति को अपने ऊपर विश्वास नहीं, वह भला दूसरों पर क्या विश्वास करेगा ? ऐसा व्यक्ति यदि दूसरों पर विश्वास करता भी है, तो उसमें ईमानदारी और दृढ़ता नहीं होती। अधिक से अधिक वह बनावटी और आडम्बरपूर्ण होता है। ऐसे व्यक्ति को अपने मात-पिता, पत्नी, संतान—किसी पर विश्वास नहीं होता। वह केवल विश्वास करने का दिखावा मात्र करता है। इसलिए वह विश्वासघात करता है और अपने माता-पिता को भी हानि पहुंचा सकता है।

अत: प्रत्येक विद्यार्थी में आत्म-विश्वास अवश्य होना चाहिए। अत: विद्यार्थियों को ऐसे व्यक्तियों के बारे में लिखी पुस्तकें अवश्य पढ़नी चाहिए जो सदा न्याय पर दृढ़ रहे और जो अत्यन्त सीधा व स्पष्ट जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें धर्मशास्त्रों में प्रतिपादित नीति-संहिता तथा आचारसंहिता का पालन करना चाहिए और उसकी अवहेलना न करनी चाहिए। पुराणों में हमारे कल्याण तथा उन्नति के लिए आधार भूत आदर्शों का उल्लेख है।

अठारह

शिक्षक ही दिशा और लक्ष्य का संकेत देते हैं। विद्यार्थी पथ-निर्माण करते है, और भविष्य में यात्रा करते हैं। मानव-जाति की निपुणता और शक्ति, उसका पद और स्तर उसी सांचे और उसी अनुपात में ढलता है और विकसित होता है, जिसमें उसके शिक्षकों का चरित्र और आचरण ढला होता है। जिन गुणों को वे अपने छात्रों में आरोपित करने में सहायक होते है, समाज के उत्थान के लिए भी उन्हीं गुणों की आवश्यकता है। जब हृदयों में सद्‌गुणों की स्थापना हो जाती है, तो मनुष्य उनके प्रभाव से गौरवमय हो जाता है। सदाचार रहित जीवन प्रकाश रहित मंदिर के समान है, एक खोटे सिक्के के समान है, उस पतंग के समान है जिसकी डोरी टूट गई है।

जो शिक्षक मिलने वाले वेतन को ध्यान में रखकर शिक्षा प्रदान करते हैं, और जो विद्यार्थी मिलने वाली नौकरियों को ध्यान में रख कर विद्या-ग्रहण करते हैं—दोनों गलत रास्ते पर हैं। वास्तव में शिक्षक का कर्त्तव्य है छात्रों को ऐसी प्रेरणा-दायनी शिक्षा प्रदान करना जो उनकी प्रच्छन्न क्षमताओं का विकास कर सके और उन्हें पूर्णत्व की दिशा में अग्रसर कर सके। विद्यार्थी का कर्त्तव्य है अपने दिव्यत्व को अनावृत करना और अपने ज्ञान और कौशल से समाज की सेवा के लिए अपने को सुसज्जित करना।

मनुष्य को तीन उपकरणों का उपहार प्राप्त है—मन जो उसे चिंतन में लगाता है, वाणी जो उसके विचारों को दूसरों तक पहुंचाती है और कार्य क्षमता जिसके द्वारा वह एकाकी अथवा मिलकर अपने अथवा दूसरों के लिए अपने विचारों को कार्य रूप में परिणत कर सकता है। मन ही उन विचारों को जन्म देता है जो या तो लाभप्रद होते हैं अथवा हानिप्रद। मन चाहे तो मनुष्य को इच्छाओं और इच्छा-जन्य निराशाओं में अधिक से अधिक उलझा कर उसे दासता की ओर ले जा सकता है, और यदि वह चाहे तो उसे निर्बन्धता, अनासक्ति और स्वतंत्रता की ओर ले जा सकता है। मन तो रुचियों और अरुचियों की एक गठरी है। मानस तो मनन का स्थल है। वही इंद्रिय-जन्य तथा मानस-जन्य अनुभवों का मंथन करता है।

मन निरंतर दो क्रियाओं में लगा रहता है–आलोचना (योजना) तथा सम्भाषण (वार्तालाप)। ये दोनों दो अलग-अलग दिशाओं का अनुसरण करते हैं। आलोचना सदैव उन समस्याओं को हल करने में लगी रहती है, जो मन के सामने उपस्थित होती हैं। सम्भाषण और वार्तालाप समस्याओं की वृद्धि करता है, और उन्हें हल करने लिए तरह-तरह के दोषपूर्ण और विनाशकारी उपाय सुझाकर गड़बडी पैदा करता है, और उनका हल नहीं होने देता। मन ही मन जो वार्तालाप चलता रहता है, और जो विरोधी संभाषण होता रहता है, वह सुबह से शाम तक मनुष्य को एक उधेड़-बुन में लगाये रहता है, यहाँ तक कि मनुष्य थककर सो जाता है। यह मनुष्य को बीमार कर देता है, और शीघ्र ही उसे बुढ़ापा घेर लेता है। जिन विषयों पर ये वाद-विवाद चलता रहता है अधिकांश में उनका सम्बन्ध अन्य व्यक्तियों की दुर्बलताओं और उनकी त्रुटियों से होता है, अथवा उनकी भौतिक सफलता या असफलता से होता है। यह निरंतर चलने वाला संभाषण ही मनुष्य की सारी विपत्तियों की जड़ है। यह व्यक्ति के मन को गहरे अंधकार से ढक लेता है। यह बड़ी जल्दी भयानक रूप ग्रहण कर लेता है और मानवत्व के सच्चे मूल्यों को सदा के लिए दबा देता है।

जागृत अवस्था में मन जिन बातों से भरा रहता है, वह स्वप्न में भी उसके सामने आती रहती हैं, और मनुष्य को जो विश्राम स्वास्थ्य की दृष्टि से अति आवश्यक है, वह भी नहीं मिल पाता। सच पूछा जाये तो इस सारे परिश्रम का फल नहीं के बराबर होता है। जब तक व्यक्ति इस दोष से अपने को मुक्त नहीं कर लेता वह अपने को पूर्ण और स्वतंत्र कहने का अधिकारी नहीं है।

आंतरिक शांति में बाधक इस प्रवृत्ति को हटाने के लिए उपचार के रूप में उपनिषदों में अनेक साधनाओं का उल्लेख है। इसमे से पहली साधना है प्राणायाम। प्राणायाम कोई जिमनास्टिक नहीं हैं और न ही कोई दुष्कर व्यायाम है। सांस लेने में जो वायु अन्दर ले जाई जाती है, उसे पूरक और जो बाहर निकाली जाती है उसे रेचक कहते हैं। इन दोनों क्रियाओं के बीच सांस को अर्थात् वायु को जो रोका जाता है, उसे कुम्भक कहते हैं। वायु को लाने और ले जाने की प्रक्रिया में जितने समय तक सांस रोकी जाये,

मन को उसी ओर एकाग्र करना चाहिए। जब इस प्रकार मन एक स्थिति में एकाग्र रहने लगता है, तो अनावश्यक विषयों पर जो मन में चर्चा चला करती है, वह अपने आप बन्द हो जाती है। इस प्रकार मानसिक शक्ति का विकास होता है।

दूसरी साधना है अपने को कर्म में संलग्न रखना। कर्म का अर्थ है कोई हितकारी कार्य। कहने का तात्पर्य है मानव सेवा। ऐसे कार्य जो श्रेष्ठ और पवित्र हों और हमारे अहं का नाश करें। जब मनुष्य के विचार ऐसे कार्यों में लगे रहते हैं तो मन उन व्यर्थ की बातों की ओर नहीं जाता।

पुनः, श्रवण (आध्यात्मिक उपदेशों को सुनना) मनन (इन उपदेशों का चिंतन) और निदिध्यासन (परमात्मतत्व में अपना विश्वास दृढ़ करने के उपाय खोजना) साथ ही जप (हरिनाम स्मरण) तथा तप (मन को विषय भोगों और ऐंद्रिक सुखों से हटाना) ये सब साधनायें भी धार्मिक ग्रंथों में मन में चलने वाले इस वार्तालाप को शांत करने के लिए ही बतलाई गई हैं। जो आत्मसाक्षात्कार कराने की अपेक्षा उसकी प्राप्ति के लिए तैयार करती हैं क्योंकि जब मन शुद्ध और पवित्र हो जाता है तभी उसे ऐसे महान् कार्य में सफलता प्राप्त होती है तभी जो उपदेश दिए जाते हैं, अथवा जो अनुभव इस प्रक्रिया में किए जाते हैं–वे पुनीत और निष्कलंक होते हैं।

दूसरा साधन जो मनुष्य को आत्मोन्नति के लिए प्रदान किया गया है वह है वाणी–शब्दों का प्रयोग। वाणी में अपार शक्ति है। जब कभी वाणी द्वारा किसी व्यक्ति से ऐसी बात कहते हैं तो उसको गहरा दुःख पहुंचाती है, अथवा उसे असंतुलित कर देती है, तो हमारे शब्द उसकी शरीरिक और मानसिक शक्ति को पूर्णतया निचोड़ लेते हैं। वह खड़ा भी नहीं रह सकता और पृथ्वी पर गिर जाता है। इसके विपरीत जब हम अपनी वाणी से किसी को कोई सुखद समाचार देते हैं, अथवा सहसा हर्षित करते हैं, तो उसमें हाथी का-सा बल आ जाता है। शब्दों का कोई मूल्य नहीं है, फिर भी वे अमूल्य हैं। अतः उनका प्रयोग अत्यंत सावधानी पूर्वक करना चाहिए। उनका प्रयोग गप्पों में न करना चाहिए, क्योंकि यह बंजर भूमि के समान है। उनका उपयोग श्रेष्ठ फलदायी उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाना चाहिए। इसीलिए प्राचीन काल में हमारे पूर्वजों ने वाणी को परिष्कृत करने के लिए मौन-व्रत

का प्रावधान किया था। यदि मनुष्य का मन अंतर्मुखी हो जाए और उसे परमात्मा का अंतर्दर्शन प्राप्त हो जाए और वाणी बहिर्मुखी होकर प्राणि मात्र में परमात्मा के दर्शन करे तो दोनों के द्वारा आध्यात्मिक शक्ति और सफलता प्राप्त होगी।

उन्नीस

सोचने विचारने, बात करने और काम करने के लिए ईश्वर ने जो यंत्र बनाये है, उनमें तीसरा यह शरीर है। शरीर के अंग हाथ-पैर, हर उस विचार को जो वाणी द्वारा प्रकट किया जाता है, कार्यान्वित करने के लिए सदैव तत्पर रहते हैं। वे सारे कर्म, जिन्हें करने में मनुष्य के हाथ लगे रहते हैं वे ही उन सुखों और दुःखों के स्रोत हैं जिनसे वह स्वयं प्रभावित होता है। मनुष्य यह कहता है कि वह सुखी है, अथवा चिंतित है, अथवा भयभीत है, या दुःखी है और वह इन सब का कारण अपने को न ठहरा कर किसी दूसरे को ठहराता है। किन्तु इस धारणा का आधार ही गलत है। सुख और दुःख हमारे अपने कर्मों का फल है। इस सत्य को कोई माने या न माने, किन्तु अपने कर्मो के सारे परिणाम व्यक्ति को भुगतने पड़ते हैं। यह प्रकृति का नियम हैं। व्यक्ति गर्मी अथवा जाड़े के मौसम में, आग और पानी में विश्वास करे अथवा न करे, किन्तु गर्मी और सर्दी से बच नहीं सकता। उनका प्रभाव तो उसके शरीर पर पड़ेगा ही इसलिए उचित यह है कि व्यक्ति अपने सभी कर्मों को उचित दिशा में ले जाए।

हाथ ही ऐसे अवयव नहीं हैं जिनके द्वारा मनुष्य कर्म करता है। व्यक्ति जो भी करता है, सुनता है, देखता है, उस सब में उसे पवित्रता की खोज करनी चाहिए। विचार, वाणी और कर्म अहंकार, लोभ और घृणा से मुक्त होने चाहिए। मनुष्य की वाणी भी इन अपराधों से मुक्त होनी चाहिए। जिन बातों को मनुष्य सुनना चाहता है, वह सब भी आडम्बरपूर्ण न होनी चाहिए। इसी प्रकार जो मनोरंजन और सुख भी वह चाहता है वह भी विशुद्ध होना चाहिए। विद्यार्थियों को चाहिए कि पहले वे इन मानसिक पाठों को हृदयङ्गम करें, तत्पश्चात् उनकी वाणी में इसका प्रभाव दिखलाई पड़ना चाहिए और

जिन पाठों को शब्दों द्वारा सिखाया जाता है वे सभी उनके द्वारा कर्मों में उतारे जाने चाहिए।

किन्तु आजकल शिक्षा मन में कोई परिवर्तन नहीं कर पाती। जो भी कान से सुंना जाता है वह वहीं का वहीं रह जाता है, और यदि वह मन तक पहुँचता भी है, तो कभी-कभी अत्यन्त अस्पष्ट होता है। उसका कोई स्पष्ट चित्र मन के सम्मुख नहीं आता। अत: शिक्षा इस प्रकार देनी चाहिए कि वह स्पष्ट रूप से मन द्वारा ग्रहण की जा सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मस्तिष्क, वाणी और हाथ–तीनों स्वच्छ और निर्मल होने चाहिए। तभी शिक्षा उत्तम होगी हौर प्रज्ञान की वृद्धि होगी।

विद्यार्थियों को तो केवल कुछ वर्षों तक ही अध्ययन करना पड़ता है, किन्तु शिक्षकों को अपने व्यवसाय में सार्थकता प्रमाणित करने के लिए बिना रुके हुए निरंतर अध्ययन करना पड़ता है। अत: अगर देखा जाए तो शिक्षक ही सच्चे विद्यार्थी हैं। वास्तविक विद्यार्थी कौन हैं ? इस प्रश्न का सीधा उत्तर है 'अध्यापक'। प्रत्येक शिक्षक का प्रेरणादायी ध्येय यही होना चाहिए 'कि मैं स्वयं एक ऐसा आदर्श विद्यार्थी बनूँ जिसका अनुकरण मेरे छात्र कर सकें। ऐसा शिक्षक निश्चय ही अपने कर्त्तव्य को पहचानता है। शिक्षक को छात्र के स्तर पर आकर उसे शिक्षा देनी चाहिए। यदि वह ऐसा नहीं करता और शिक्षा देता रहता है, तो उसके छात्रों का भविष्य क्या होगा, इसकी कल्पना की जा सकती है।

इस प्रक्रिया को कहते हैं 'अवरोहण'। इसका अर्थ शिखर से नीचे पृथ्वी पर उतरना नहीं है। इसका अर्थ है कि जिस व्यक्ति को विद्या से लाभ पहुंचाना है, उसके स्तर को स्वीकार करना। फर्श पर खड़ी हुई नन्हीं बच्ची कूद कर माँ की गोद में नहीं आ सकती, यद्यपि यह आने के लिए अत्यन्त लालायित है। ऐसे अवसर पर माँ यदि सोचने लगे कि मैं बड़ी हूँ। मैं भला उसको लेने के लिए क्यों झुकूँ ?" तो वह बच्ची को प्राप्त नहीं कर सकती। झुकना अर्थात् नमन मनुष्य को छोटा नहीं बनाता। इसी प्रकार यदि शिक्षक अपने विद्यार्थी को शिक्षा देने के लिए उसके स्तर पर आकर सरल भाषा और सरल विधि से पढ़ाता है, तो इससे वह छोटा न हो जाएगा। यह तो प्रेम का एक प्रशंसनीय चिन्ह है।

अनेक शिक्षक आज कल हठ पकड़ लेते हैं। 'देखो मैंने तो आज के लिए अमुक विषय पर अमुक पाठ तैयार किया है। मेरा कर्त्तव्य है उसी विषय पर बोलना। मैं बस वहीं करूंगा और चल दूँगा।' छात्रों की समझ में वह पाठ सही ढंग से आया है कि नहीं किस विषय को किस ढंग से पढ़ाना चाहिए, कौन सी पद्धति अपनानी चाहिए–इन सब बातों की उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती। किन्तु क्या यह उचित है ? साथ ही उन्हें विद्यार्थियों के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए, जैसे व्यवहार की आशा वह अपने छात्रों से करते हैं जब शिक्षक प्रेम पूर्वक अपने छात्रों को विद्या-दान देता है, तो गुरु के प्रति उन छात्रों का आदर भाव और भी बढ़ जाता है। प्रत्येक शिक्षक को अपने विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के लिए प्रयत्न करना चाहिए। उसे स्वयं भी प्रेम द्वारा अपने हृदय को उदार और व्यापक बनाना चाहिए। और अपने जीवन के शेष वर्ष केवल अपने स्वार्थ की पूर्ति में न गंवाना चाहिए।

शिक्षक को फूट और विभाजन की नीति से बचना चाहिए। प्राचीन काल के ऋषि और संत अपने शिष्यों और अपने पुत्रों को एक समान दृष्टि से देखते थे। किन्तु आज अपने शिक्षकों के ऊपर से हमारा विश्वास इस विषय पर उठ गया है। जब किसी प्राचार्य का पुत्र परीक्षा भवन में किसी प्रश्न पत्र का हल कर रहा होता है, तो निरीक्षक के रूप में उस प्रचार्य की नियुक्ति वहां नहीं की जाएगी, इस भय से कि वह कहीं अपने पुत्र को प्रश्नों के सही उत्तर न बता दे और इस प्रकार उसे अधिक अंक प्राप्त हो जाएं। किन्तु प्राचीन गुरुकुलों और कुटियों में इस प्रकार संदेह तो कभी होता ही न था कि कोई भी गुरु इस प्रकार का पक्षपात किसी के प्रति करेगा। आज सभी स्तरों पर, मन वचन और कर्म में भ्रष्टाचार ने प्रवेश पा लिया है। इसी कारण ये सावधानियाँ बरतनी पड़ती हैं। अत: यदि आज के शिक्षक गुरु के अपने खोये हुए पद और अधिकार को प्राप्त करना चाहते हैं तो उन्हें अपने भावों और विचारों को निर्मल बनाने की साधना का कठोर पालन करना होगा। सच्चा गुरु वही है जो अपने विद्यार्थी को एक सम्मानित और सुखद जीवन व्यतीत करने के लिए तैयार करता है। इसी प्रकार एक सच्चे शिष्य को गुरु द्वारा प्रदत्त इस शिक्षा को बड़े सम्मान और उत्सुकता से ग्रहण करना चाहिए।

विद्यार्थियों के चरित्र और उनकी क्रियाओं की प्रकृति और श्रेष्ठता के लिए शिक्षक ही उत्तरदायी है। छात्रों पर उनकी विद्वत्ता और नेतृत्व का बड़ा प्रभाव पड़ता है। अत: शिक्षकों को चाहिए कि वे अपने को स्वार्थपूर्ण विस्तार वादी नीति तथा राजनीतिक दांव पेंच से बचाये रक्खें और केवल आध्यात्मिक ज्ञानोदय को जीवन में अपना आदर्श बनायें। आध्यापक वर्ग को एक दूसरे के साथ भाई-भाई की तरह रहना चाहिए। छात्रगण भी शिक्षकों के बीच चलने वाली प्रतिद्वन्द्विता और मतभेदों को सहज ही समझ जाते हैं। निस्सन्देह, मतभेद तो होते ही हैं, और किसी सीमा तक लाभप्रद भी हैं। किन्तु वे ऐसे न हों कि पारस्परिक सम्बन्ध ही दूषित हो जायें, संस्था की उन्नति में बाधा पड़े और सीखने-सिखाने की प्रक्रिया पर भी इसका बुरा प्रभाव पड़े। इन क्षेत्रों में उन्हें सदैव एक दूसरे से परामर्श लेते रहना चाहिए, और सहयोग देना चाहिए।

विद्यार्थियों में भी हमें उद्देश्य की एकता की भावना और पारस्परिक सहयोग का अभाव दिखाई पड़ता है। सद्भाव और सहयोग तो अलभ्य हो गए हैं। पारस्परिक प्रेम और सत्संग की इच्छा मंद पड़ गई है। एक कहावत है 'यथा राजा तथा प्रजा 'जैसा शिक्षक वैसा विद्यार्थी' भी उसी तरह सच है। अत: शिक्षकों को गंभीर चिंतन और त्यागमय जीवन में रुचि लेनी चाहिए। संभव है कि रसायन शास्त्र अथवा भौतिक शास्त्र का विशेषज्ञ उतना जीव विज्ञान के विषय में न जानता हो जितना कि जीव विज्ञान का विशेषज्ञ। फिर भी इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि वे सब मिलकर रहें और एक टीम (दल) के रूप में काम करें। क्योंकि कोई व्यक्ति किसी भी विज्ञान का विषेषज्ञ क्यों न हो उसका अध्यात्म विज्ञान पर भी अधिकार होगा क्योंकि वह इसके द्वारा ही उस परम सत्य परमात्मा तक पहुंच सकता है। आणविक शोध केन्द्र (एटॉमिक रिसर्च सेन्टर) में मैंने यह कहा था कि सुप्तावस्था में प्रत्येक वस्तु में शक्ति (Energy) निहित है चाहे वह कागज का एक टुकड़ा हो या कपड़े की पट्टी। जब यह शक्ति समाप्त हो जाती है, तो उसका परिणाम मृत्यु है। जब पदार्थ में शक्ति भर जाती है, तो उसका जन्म होता है। यह शक्ति है सत्-चिद् आनन्द। हम (सत्) प्रसन्न (आनन्द) हैं (चिद्)–यह सनातन सत्य है। शक्ति ही सब कुछ है, और यह परमात्मा

से प्राप्त होती है। वही मानव का आधार है। किन्तु आज हम जीवन का निर्माण दूसरे ढांचे पर कर रहे हैं और आध्यात्मिक धरातल को छोड़ रहे हैं। आधारभूत ईश्वरीय सिद्धान्त की उपेक्षा की जा रही है। हम ऐसे विषयों के अध्ययन की ओर आकर्षित होते है जो हमें भौतिक दृष्टि से अधिक सम्पन्न सुखी और शक्तिशाली बनाते हैं। किन्तु इन सब की तह में भी तो ईश्वरीय तत्व विद्यमान है। मनुष्य को इन नाना नामों और रूपों के पीछे छिपी हुई उस एक सत्ता के परम सत्य को पहचानना चाहिए अथवा कम से कम प्रेम और बंधुत्व का जो व्यवहारिक सत्य है, उसे तो जानना ही चाहिए। ये दो बिन्दु उन सीमाओं के छोर हैं जिनका ध्यान शिक्षा को सदैव रखना चाहिए–यही उसके अर्थ और इति हैं।

Library
IIAS, Shimla
H 294.572 Sa 21 VI
00097949